नव जागरण कालीन साहित्य में दलित चेतना

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0 फिल्0 उपाधि
हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध
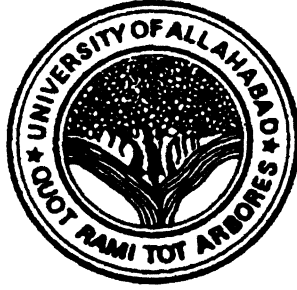
निर्देशिका
डॉ० (श्रीमती) लालसा यादव
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता :
राजीव प्रताप सिंह
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

आमुख

भारतीय सामाजिक ढांचे के मूलाधार वर्ण व्यवस्था, जातिवाद, एव ऊच नीच के कारण समाज का बहुत बडा वर्ग सदियो से उपेक्षित रहा है। मनुष्य होने के बावजूद उसे पशु तुल्य जिन्दगी जीने को विवश किया गया है। समाज के कथित नियंताओ ने एक बहुत गहरी साजिश के तहत् समाज में एक विस्तृत विभाजक रेखा खींचकर अपने को ऊंच और दूसरे को नीच बना दिया। सभी तरह की सुख सुविधाओ पर एकाधिकार स्थापित कर समाज के कथित उच्च वर्ग ने कभी नस्ल के नाम पर, कभी जातीय उच्चता के नाम पर अपने अह को इतना पाले रखा कि तिरस्कृत व्यक्तियों को कभी अनार्य, शूद्र, अंत्यज, अस्पृश्य आज 'दलित' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस तिरस्कृत उपेक्षित वर्ग को इतनी अधिक वर्जनाओं का शिकार होना पडा कि अपनी जुबान तक नही खोल सकते थे। उनके लिये वेदों का पठन–पाठन तो दूर श्रवण तक भी वर्ज्य था, गलती से भी वेद पाठ सुनने पर उनके कानों में पिघला हुआ सीसा भरने का कठोर प्रावधान था, ऐसी व्यवस्था में आखिर वे कैसे जी रहे थे? यही कुछ प्रश्न हैं जिन्होने मुझे नवजागरण काल के साहित्य में दलित चेतना विषय पर शोध करने के लिये प्रेरित किया। हिन्दी में 'दलित चेतना' का अध्ययन करते हुए मैंने पाया कि सदियों से शोषित, उपेक्षित, वर्ग किस प्रकार नवजागरण काल के साहित्य में स्थान पाने लगा। नवजगारण काल के दलित आन्दोलन के प्रमुख डॉ० भीमराव अम्बेडकर थे। उन्ही के विचारो के प्रभाव स्वरूप आज दलित वर्ग अपने मानवीय अधिकारों की आवाज उठाने लगा है। दलित अस्मिता पर सदियों से

किये जा रहे अन्याय और अत्याचार के विरोध में आज चारों ओर से स्वर मुखरित होने लगे हैं। इनकी व्यंग्य की जुबान में अभिव्यक्त हुआ विरोध का यह स्वर आज दलित साहित्य के नाम से अभिहित होने लगा है। कबीर और रैदास के बाद दलितों की पक्षधरता को सशक्त अभिव्यक्ति प्रेमचन्द्र, निराला और पन्त ने दी।

शोध प्रबन्ध का आयाम कुल पाँच शीर्षको के अन्तर्गत फैला हुआ है। प्रथम अध्याय मे, आधुनिक युग का सूत्रपात, नवजागरण मे दलित कीचेतना, वर्ण व्यवस्था एव अस्पृश्यता, किसानो एवं मजदूरो की असहायता का चित्रण, अन्न वस्त्र एव आवास की समस्या के साथ ही दलितवर्ग की मानसिक दशा पर दृष्टि डाली गयी है।

द्वितीय अध्याय में, दलित आन्दोलन की पृष्ठभूमि, दलित शब्द की अर्थव्याप्ति, सर्वहारा से दलित की यात्रा, प्राचीन भारत मे शूद्रो की स्थिति, गाधी और अम्बेडकर की चिन्तन की भिन्नता को रेखाकित करने के साथ ही, हीरा डोम, अछूतानन्द की दलित कविताएं तथा प्रमुख दलित चितंको के योगदान, की चर्चा की हैं दलित साहित्य की अवधारणा पर भी दृष्टि डाली गयी है।

तृतीय अध्याय, नवजागरण कालीन सांस्कृतिक आन्दोलन एवं साहित्य का समाजशास्त्री परिपेक्ष्य के अन्तर्गत, ब्रह्मसमाज, ज्योतिबा फूले, नारायण गुरू, रामास्वामी नायकर, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी के साथ ही साहित्य में दलित वर्ग की स्थिति की विशेष रूप से चर्चा की गयी हैं।

चतुर्थ अध्याय, बीसवी सदी में नवजगारण एवं छायावादी काव्य आन्दोलन के बहानें परिवर्तित साहित्यिक चेतना की पड़ताल

के अन्तर्गत छायावाद का स्वरूप एवं युगीन यथार्थ की अभिव्यक्ति के साथ सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक यथार्थ को भी चित्रित किया गया है। नारी मुक्ति का चित्रण भी प्रमुखता के साथ हुआ है। प्रेमचन्द के दलित साहित्य पर भी एक गहरी दृष्टि डाली गयी है।

पचम अध्याय, उपसहार में शोध–प्रबन्ध के निष्कर्षों को समन्वित किया गया है। इस प्रकार संक्षेप में यह निर्दिष्ट करने का प्रयास किया हूँ कि प्राचीन काल से चली आ रही दलितों के शोषण की नीति किस प्रकार नवजागरण काल मे शब्द रूप प्राप्त कर सकी।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की प्रवक्ता वात्सल्यमयी डा० लालसा यादव के सूक्ष्म निरीक्षण एवं निर्देशन का फल है। कुछ ऐसे ऋण होते हैं, जो जीवन पर्यन्त कभी नही चुकाये जा सकते ऐसा ही ऋण वात्सल्यमयी डा० लालसा यादव का मेरे ऊपर है। मैं उनका हृदय से अत्यन्त कृतज्ञ एवं ऋणी हूँ। ऐसा ही ऋण श्रेद्धय सूर्यनाराण (प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) का भी मेरे ऊपर है उनके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिन्होने पुस्तक, लेख एव पत्र पत्रिकाओं को   उपलब्ध कराने के साथ ही मेरा हौसला अफजाई करते रहे।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहायता करने वालों मे प्रो० राजेन्द्र कुमार, प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, डा०कँवलभारती, डा० गिरिजा राय एवं मेरे बडे भाई जस्टिस प्रवीण कुमार सिंह श्रीनेत व भाभी रेखा सिंह प्रमुख है। मैं इन सबके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। ऐसे विरले क्षण में मैं अपने पूज्य पिता श्री विजय बहादुर सिंह व ममतामयी मां श्रीमती विद्या सिह को कैसे भूल सकता हूँ जिन्होंने मुझे सदैव

प्रेरणा एव प्रोत्साहन दिया तथा मेरी तमान गुत्थियां सुलझायी। इस कार्य मे मेरे सम्पूर्ण मित्रों ने सहयोग किया अतः मैं उनके योगदान को कैसे भूल सकता हूँ।

मैने अपने इस शोध कार्य में केन्द्रीय लाइब्रेरी इलाहाबद विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, हिन्दुस्तानी एकेडमी, राजकीय पब्लिक लाइब्रेरी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी मे जाकर अध्ययन किया और सामग्री जुटाई।

राजीव प्रताप सिंह

शारदीय बसन्त — (राजीव प्रताप सिंह)

16 दिसम्बर **2002** — शोध छात्र, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वद्यालय इलाहाबाद

-: विषय सूची :-

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

प्रथम अध्याय

नव जागरण का अर्थ, विकास एवं स्वरूप

नव जागरण के लिये अंग्रेजी में 'रिनांशा' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ है नवजागरण[1] (पुनर्जागरण) । आधुनिक युग के पूर्व मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा को उभारने का सर्वप्रथम प्रयास नवजागरण युग में किया गया। इसलिये 'नवजागरण' शब्द यूरोप के मध्य युग तथा आधुनिक युग के बीच संक्रान्ति की अवस्था का वाचक है।[2] नव जागरण का श्री गणेश इटली में हुआ और वहाँ उसका विकास चरमावस्था पर पहुंचने के पश्चात उसका प्रभाव क्रमशः फ्रांस जर्मनी, इग्लैण्ड आदि देंशो पर पड़ा।

भारत में श्री गणेश प्रायः अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क के फलस्वरूप 1857 ई0 के आन्दोलन के बाद अपेक्षा कृत छोटे पैमाने पर प्रारम्भ हुआ। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, कांग्रेस आन्दोलन, थियोसोफिकल सोसाइटी जैसे विविध आन्दोलनतथा विवेकानन्द, टैगोर, गाँधी, राधाकृष्णन, अरविन्द मानवेन्द्र नाथ राय जैसे विचारक इस नवजागरण काल के प्रमुख नेता हैं।[3] इन भारतीय समाज सुधारकों ने दिशा विहीन भारतीय जनता को अपने विचारों से प्रभावित किया और भरतीय संस्कृति के वैभवशाली अतीत को सामान्य जनमानस के सामने रखकर उन्हें एक नयी दिशा की ओर बढ़ावा दिया। स्वामी विवेकानन्द के विचारों एवं कार्यो से प्रभावित भारतीय राष्ट्रीयता के नवजागरण का दिनकर जी ने जो सुन्दर चित्र अंकित किया है, उसे देखने पर पता चलेगा कि नवजागरण काल में

भारतीय समाजसुधारकों का कितना महान योगदान रहा है। दिनकर जी लिखते है कि 'अभिनव भारत को जो कुछ कहना था वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं जिसमें प्राचीन व नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद और विज्ञान सबके के सब समाहित होते है।[4]

नव जागरण काल भारत के इतिहास में अपना एक अलग अस्तित्व स्थापित कर चुका है सर्व प्रथम इसी काल में भारतीय राष्ट्रीय चेतना की निद्रा भंग हो गयी। मनुष्य ने अपने आप को पहचान लिया। पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति तथा ज्ञान से परिचित होने की लालसा रखे हुये भारतीय विद्वान इस युग में अत्याधिक प्रभावित हो उठे। भारतीय चिन्तकों ने अंधानुकरण एवं अमानुष रूढ़ियों को ठुकरा कर यहाँ की जनता को पश्चिम की उपलब्धियों से अवगत होने का अवसर दिलाया इसके पहले भारतीय समाज दिशाहीन हो गया था। रूढ़ि परम्परा एंव अन्ध विश्वासों से ग्रस्त हो चुका था। इस सन्दर्भ में डॉ० सरयू प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि 'मध्युगीन धार्मिक आन्दोलन का मानवीय स्वर विलुप्त हो गया और धार्मिक रूढ़ियों एंव आडम्बडरों ने समस्त जीवन को ढंक लिया, सर्वत्र संकीर्णता का घना अंधकार छा गया। इस अन्धकार के उपरान्त प्रकाश आया उसे हम भरतीय नवजागरण (इण्डियन रिनाशां) के रूप

में जानते हैं।[5]

नव जागरण काल अपने आप में इस लिये भी महत्व रखता है किं इस काल में पुराण पंथियों के ढोंग का पर्दाफास हुआ। पुराण पंथीं परिवर्तन का विरोध हमेशा करते रहे। वे तो पाश्चात्य उपलब्धियों को स्वीकारने के विरोधी थें। उनकी दृष्टि में उनका धर्म, रीति, विश्वास, भाषा आदि ही श्रेष्ठ थी और प्रत्येक विदेशी वस्तु चाहे वे विचार हो या कोई सामान्य उपयोग की सामग्री, उनके लिये धृणास्पद थी। लेंकिन नवजागरण युग में पश्चिम की उपयोगी उपलब्धियों को स्वीकार किया गया। यह युग विचार और कर्म की एक नवीन दिशा का पौरोहित्य करता है। जिसमें पहली बार भारतीयता की पृष्ठभूमि में पाश्चात्य मूल्यों की स्वीकृति होती है। पाश्चात्य उपलब्धियों के प्रति स्वीकार्य भाव के साथ भरतीय सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति भावात्मक आग्रह इस युग के मानस की प्रमुख विशेषता है।[6]

आधुनिक युग का सूत्र पातः-

नवजारण काल आधुनिक युग का प्रवेश द्वार माना जाता है। इस युग में अचानक क्रान्ति तो नही हो सकी किन्तु पुरानी परम्पराओं एवं रीति रिवाजों की रक्षा करते हुये नवीन सामाजिक क्रान्ति की ओर कदम बढ़ाने का प्रयास किया गया। नवजागरण से प्रभावित होकर विश्व भर में अनेक विचारक उभर आये। संसार के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का महत्वपूर्ण स्थान है।

कार्ल मार्क्स, डार्विन, भारतेन्दु, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, तोल्सतोय आदि महापुरूषों के त्याग और तपस्या का यही काल है।[7] नवजागरण काल के ऐसे अनेकों महापुरूषों के विचार स्वातन्त्रय के प्रभाव से परम्परागत रूढ़ियों के वन्धनों को तोडकर भारतीय समाज के अन्तर्गत आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ।

आधुनिक युग राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से उथल पुथल का युग है। एक ओर अंग्रेज शासक अपने शासन को दृढ़ मूल बनाने के लिये प्रयत्नशील थे, तो दूसरी ओर भारतीय चिंतक एवं समाज सुधारक क्रान्ति का ऐलान कर रहे थे। आधुनिक युग का आरम्भ उत्पादन यातायात और वितरण के नये साधनों के साथ होता है। अंग्रेजों ने भारत की आर्थिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन किये। एक ओर तो उन्होंने देशी उद्योग धन्धों को आमूल तहस नहस कियाा, किन्तु दूसरी ओर उन्होंनें पूँजी से नये उद्योग धन्धे भी भारत में स्थापित करने शुरू किये। रेल, तार, डाक आदि जो उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता कायम करने के लिये खड़े किये वे भारत में एक नये जीवन और संस्कृति के दूत भी बन गये। अंगेजी शिक्षा का जो अस्त्र उन्होंनें अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये चलाया था, सुदर्शन चक्र की भांति उलटकर उन्हीं के मर्म स्थान पर लगा।

इस काल की राजनीतिक पृष्ठभूमि में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्य की स्थापना, प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम, भारत में विक्टोरिया शासन की प्रतिष्ठा, इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना, संसार के महायुद्ध, गाँधी जी का असहयोग आन्दोलन, स्वराज्य पार्टी

की स्थापना, जिन्ना का कांग्रेस से निकलकर मुस्लिम लीग में सम्मिलित होना, कांग्रेस का सरकार से परिषदों के रूप में कार्य, पाकिस्तान पृथक होने की मांग, भारत छोड़ो आन्दोलन, इंग्लैण्ड में मजदूर दल का विजयी होना, 1946 में अन्तरिम सरकार की स्थापना, 1947 को भारत के स्वतन्त्र होने के साथ ही पाकिस्तान का पृथक होना इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण घटनायें हैं।

आर्थिक स्थिति तो अत्यन्त दयनीय बन गयी थी। ब्रिट्रिश शासन की आर्थिक नीति से भारत के कई गृहउद्योग धन्धे, हस्तकारी आदि समाप्त प्राय हो गये थे। दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण जनता में भीतर ही भीतर असंतोष की अग्नि सुलग रही थी, जो स्वतन्त्रता न मिलने तक जलती रही। आर्थिक स्थिति से प्रभावित होकर भारतीयों ने अंग्रेजी दासता से मुक्ति पाने का दृढ संकल्प किया।

अंग्रेजी शोषण नीति के फलस्वरूप राजनीतिक एवं आर्थिक दयनीय स्थितियों के समान ही सामाजिक स्थिति भी चिन्तनीय थी। अर्थाभाव एवं अन्नाभाव के कारण समाज का जीवन स्तर अत्यधिक विकट हो चुका था। अर्थिक संकट के कारण समाज में अनेक कुरीतियों का फैलाव स्वाभाविक बन गया। जांत-पात छुआ-छूत, बाल-विवाह, दहेज प्रथा, अन्ध विश्वास आदि कुरीतियों ने समाज को जर्जर ही बना दिया था।

लेकिन आधुनिक युग में समाज स्वयं को पहचान गया। साहित्य के क्षेत्र में भी इतना अमूलाग्र परिवर्तन हो गया

मन्दिरों, मसिजदों एंव राजमहलों में चक्कर काटने वाली हिन्दी की कविता सीधे दलित मानव की उपेक्षा को अपना विषय बनाने लगी। नरेन्द्र देव वर्मा के मतानुसार “इस युग में पहली बार कविता कामिनी ने राजप्रासादों का त्याग कर हरी-भरी ठोस जनपूर्ण-धरती पर पैर रखना सीखा, उसके अलंकरण सादगी के समक्ष पराजित हो गये, उसकी मधुर वाणी अनगढ़ ग्राम्य भाषा की नैंसर्गिक सुकुमारता के समक्ष लज्जित हो गयी।[8] भारतीय विचारकों ने इस युग में पहली बार अंग्रेज नीति का पर्दाफास किया। अनेक समाज सुधारक भरतीय जनता का पथ पदर्शन करने के लिये आगे बढे। सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन आधुनिक युग की देन है।

भारतेन्दु युग को आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल माना जाता है। आलोचकों ने 1850 ई0 से लेकर 1875 ई0 तक अपनी-अपनी ओर से अलग-अलग काल में इस युग का प्रारम्भ निर्धारित किया है। लेकिन भारतेन्दु युग का प्रारम्भ तो सन 1857 के विद्रोह के उपरान्त मानना ही उचित होगा। वैसे तो भारतेन्दु युग रीतिकाल और आधुनिक काल का संक्रान्ति-युग होने के कारण इस युग में प्राचीन और नवीन का संगम दिखयी देता है, फल स्वरूप निश्चित काल का निर्धारण करना सम्भव नहीं है। वास्तव में भारतेन्दु युग नव जागरण का युग है एवं इस काल के साहित्य को नवजागरण काल का साहित्य कहा जाता है।

पाश्चात्य सभ्यतासे सम्पर्क, नवजागरण का आरम्भ, ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज का प्रभाव, कांग्रेस की

स्थापना, समाज सुधरकों के प्रयत्न तथा नव नवीन यंत्रों का परिणाम आदि से उन्नीसवीं शताब्दी को सम्पूर्ण जाति के इतिहास में नवोन्मेष की शताब्दी के रूप में विशेष महत्व है। लेकिन फिर भी इस युग की सामाजिक स्थिति मानव को निर्जीव एवं जड़ यंत्रों में परिणत कर रही थी। 'मध्यकालीन सामाजिक राजनीतिक एवं-धार्मिक विश्वास आधुनिक वैज्ञानिक युग में अधिक उपादेय सिद्व नहीं हो रहे थे, किन्तु परम्परा प्रिय साधारण जन समाज उन्हीं से लिपटा था।[9] फलस्वरूप भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों के सामने यह चुनौती थी कि समाज को सही दिशा में मोड़कर उसकी उन्नति का प्रयत्न करें। भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कवि के साथ-साथ समाज सुधारक की भूमिका को भी सफलता से निभाया, जड समाज में निर्जीव हो रहे व्यक्तियों के लिये सक्रियता का संदेश काव्य के माध्यम से देते हुये इस युग के कवियों ने मानव प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया।

रीतिकाल की श्रृँगार परम्परा से बाहर निकलकर आधुनिकता का सूत्रपात करने वाली नव जागरण की कविता संक्रमणावस्था से गुजर रही थी। फलस्वरूप भारतेन्दु युग के काव्य साहित्य को पढ़ने से एक विचित्र कोलाहल का अनुभव होता है। विभिन्न धाराओं के एक मिलने से पाठक को आकाश-भेदी कल-कल की ध्वनि सुनाई पड़ती है। कुछ लोग नायिकाओं के नख-सिख वर्णन में लगे हैं तो दूसरे प्रतिभावान समस्या पूर्ति में चमत्कार दिखा रहे हैं। अन्य कवि महामारी, अकाल, टैक्स पर लोक गीत रच रहे हैं और कुछ लोग

कविता में गद्य की भाषा के प्रयोग भी कर रहे हैं। इस कोलाहल पूर्ण स्थिति में भी जनजीवन के साथ कविता का सम्बन्ध प्रस्थापित करने का महत्व पूर्ण कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने किया है।[10] जहाँ तक आधुनिक काव्य का सम्बन्ध है, वे उसके प्रवर्तक हैं। रीतिकाल में हिन्दी साहित्य जन जीवन से अलग हो गया था। भारतेन्दु को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने साहित्य और जीवन का सम्पर्क स्थापित कर इस विच्छेद की गहरी खाई को पाट दिया। हिन्दी के समर्थ आलोचकों ने भारतेन्दु की इस दृष्टि से भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जो काम भूषण सा समर्थ कवि न कर सका था, भारतेन्दु ने उसे कर दिखाया। इसी से उनका महत्व आंका जा सकता है। भारतेन्दु ने देश भक्ति, राजभक्ति, समाज सुधार, स्वदेशीयता, हिन्दुत्व, हिन्दी प्रेम आदि विषयों पर कवितायें लिख काव्य की संकीर्ण सीमा का विषय विस्तार किया और अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया।[11]

भारतेन्दु जी की तरह ही अन्य सहयोगी कवियों ने भी प्राचीनता से स्वयं को अलग करते हुए नवीनता को अपनाया। साथ ही देश में जिस नवीन चेतना का सूत्रपात्र हुआ उसका प्रभाव भी इस काव्य धारा पर पड़ा। रीति कालीन स्थिर जीवन-दृष्टि के मोह से स्वयं को उबारकर इन कवियों ने वर्तमान जीवन में परिवर्तन की आवश्यकता को प्रतिपादित किया। राजनीति, समाज, धर्म तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में जो महत्व पूर्ण हलचलें उस काल में प्रारम्भ हुयी उनसे इस काल के कवि तटस्थ न रह सकें। भोग विलास में डूबे रहकर जीवन व्यतीत करने की लालसा से परिचार्थित होकर वे रीति कालीन कवियों

की तरह केवल मादकता उत्पन्न करने वाला नही लिखना चाहते थे। उनके समय काव्य रचना का व्यापक उद्देश्य था। जीवन में परिवर्तन की उद्दाम लालसा ने उन्हें पुरानी परिपाटी का साथ छोड़ने के लिये बाध्य कर दिया। अतःकुरीतियों में जकड़ा जन सामान्य इनकी कविताओं में उभरा, विदेशी शासन के आर्थिक शोषण से त्रस्त जन समुदाय की असहायता को वाणी प्राप्त हुयी। शासक एवं शोषित के रूप में मानव-मानव के बीच जो दूरियाँ निर्मित की गयी थी उन्हें साहस के साथ इन कवियों ने प्रस्तुत किया। देशवासियों को पिछड़ेपन से उबारकर प्रगति पथ पर अग्रसर करने की आवश्यकता को इन्होंने जनवादी दृष्टिकोण को रेखाँकित किया।

डॉ० रामविलास शर्मा इस सन्दर्भ में लिखते हैं कि "भारतेन्दु का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढांचे से सन्तुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य को एकता समानता और भाईचारे का भी साहित्य है। भारतेन्दु स्वदेशी आन्दोलन के ही अग्रदूत न थे, वे समाज सुधारको में भी प्रमुख थे। स्त्री शिक्षा विधवा-विवाह, विदेश यात्रा आदि के समर्थक थे। इससे भी बढ़कर महत्व की बात यह थी कि भारतीय महाजनों के पुराने पेशों सूदखोरी की उन्होनें कड़ी आलोचना की थी।"[12] अतः स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग का काव्य तत्कालीन समाज एंव जनजीवन का काव्य कहलाने का अधिकारी है।

नव जागरण और दलित वर्ग की चेतनाः-

इस युग में जनवादी साहित्य लिखना प्रारम्भ हो गया और कविता कामिनी पहली बार जन सामान्य में पहुंचगयी । इसके पूर्ववर्ती रीतिकालीन कविता जीवन तथा जनसामान्य से विच्छिन्न हो चुकी थी। लेकिन राष्ट्रीयता के उदय से इस नवजागरण काल में समाज सुधार, रूढ़ियों का विरोध, नारी की प्रगति का समर्थन, देशवासियों पर होने वाले अत्याचारों के प्रति रोष व्यक्त कर शोषित, पीडित, दीन हीन दलित वर्ग के लिये अधिकारों की मांग उस वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति के भाव दिखायी देते हैं। इन कवियों ने धार्मिक कट्टरता के स्थान पर धार्मिक उदारता का प्रतिपादन करते हुए परोपकार एवं मानव प्रेम का संदेश दिया। साहित्य के क्षेत्र में यह अचानक मोड़ आने का कारण यह है कि उस काल में 'हमारा देश नये मोड पर आकर खडा हो गया और उसके साथ ही देश की साहित्यिक चेतना भी नवीन दिशा की ओर मुड़ी। प्राचीन भारतीय संस्कार तब भी प्रबल रूप से वर्तमान थे, परन्तु वे भी बिल्कुल नई दिशा में मुँह मोडकर खडे हो गये। यहाँ से शिक्षित समुदाय में एक नयें दृष्टिकोण की सम्भावना उत्पन्न हुयी।[13]' फलस्वरूप युगीन कवियों ने भी नवीनता को आन्तरिक रूप से ग्रहण किया । नवीनता के बाह्य रूप अनुकरण को व्यंग्य वाणों का शिकार बनाया। देश के दलित वर्ग पर उनका ध्यान गया। इस प्रकार सही अर्थो में प्रथम बार हिन्दी काव्य मानवीय हुआ। वर्ण व्यवस्था एवं अस्पृश्यता जेसी कुरीतियों का विरोध, किसानों, मजदूरों एवं नौकरों की असहायता

अन्न वस्त्र एवं आवास की समस्या तथा नारी की दुर्दशा और भिखारी आदि विषयों पर बडी सहानुभूति के साथ काव्य रचना करते हुये आलोच्य काल के कवियों ने इन दलितों की असहाय स्थिति में परिवर्तन लाकर उन्हें मानवीय अधिकार प्रदान करने की कामना की है।

नवजागरण काल में कवियों में प्रमुख हैं- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बाबा सुमेर सिंह साहब जादे, बद्री नारायण उपाध्याय चौधरी 'प्रेमधन', श्री राधाचरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, पं. अम्बिका दत्त व्यास, रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर', पं. सुधाकर द्विवेदी, राधाकृष्णदास आदि। इन सब कवियों की रचनाओं में दलित वर्ग का चित्रण प्राप्त होगा ही ऐसी बात नही है और जो मिलेगा वह संख्यात्मक दृष्टि से कम ही होगा, लेकिन फिर भी इस युग में हिन्दी कविता पहली बार 'दलित' हृदय की तह में पहुंचने के लिये कार्यरत हुयी है। फलस्वरूप संख्यात्मक दृष्टि से कम होने के बावजूद इस संक्रान्ति कालीन दलित वर्ग के चित्रण का गुणात्मक महत्व अनन्य साधारण है। यहाँ से प्रेरणा ग्रहण करके ही 'नई कविता' तक की हिन्दी काव्य धारा उपेक्षित दलित मानव को अपने ढंग से व्यापकता के साथ काव्य रूप लेती गयी। अतः अब हम नवजागरण काल के रचनाओं में प्राप्त दलित-वर्ग के चित्रण का क्रमशः विवेचन करेगें।

1. वर्ण व्यवस्था एवं अस्पृश्यताः-

'भारतेन्दु युग में एक ओर मध्यकालीन दरबारी संस्कृति थी तो दूसरी ओर आम जनता में एक सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन के लिये वातावरण तैयार करना था। साहित्य में देश के बढते असंतोष को प्रकट करना भर न था, सदियों से चले आते, समाज की हड्डियों में बसे हुए सामन्ती कुसंस्कारों से भी मोर्चा लेना था। यह दूसरा काम कठिन था। जनता के पुराने संस्कारों को छूना उनके धर्म को चुनौती देना था, एक बार हुसकाई जाकर जनता सभी नये विचारों को संदेह से देखने लगती । परन्तु भारतेन्दु एवं उनके साथियों ने इसकी चिन्ता न करके दृढ़ता से अपना युद्ध छेड दिया, नास्तिक कहे जाने पर भी उन्होंने अपना सुधार का मार्ग न छोडा। इसके साथ ही उन्हें अपनी भाषा के लिये लडना था। वे अपने जन साहित्य की रचना कचहरियों की भाषा में न कर सकते थे, उनके लिये जनता की भाषा को अपनाना आवश्यक था।'[14]

डॉ0 रामविलास शर्मा के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों को एक साथ ही विभिन्न मोर्चो पर लडना था। शायद इसी के परिणाम स्वरूप ही भारतेन्दु जैसे समाज सुधारक कवि अमूलाग्र क्रान्ति के लिये रूढ़िग्रस्त समाज को टक्कर देकर अपने सर को लहूलुहान होने से बचाने के लिये और समाज जीवन में मनः परिवर्तन के साथ धीरे-धीरे सुधार लाने के हेतु वर्ण व्यवस्था एवं वैष्णव धर्म का समर्थन करते हैं। लेकिन फिर भी भारतेन्दु ने समाज के लिये सही पथ पदर्शन करने वाली धार्मिक

बातों का समर्थन किया है और जो बातें समाज विघातक हैं उनका खुलकर विरोध भी किया है। उनके मतानुसार 'सब उन्नतियों का मूल धर्म है....... ये सब तो समाज धर्म हैं जो देश काल के अनुसार शोधे ओर बदले जा सकते हैं। बहुत सी बातें जो समाज विरूद्ध मानी हैं किन्तु अर्थशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइयें, जैसे जहाज का सफर, विधवा विवाह आदि। लडकों को छोटे पन में ही ब्याहकर उनका बलवीर्य आयुष्य सब मत घटाइयें। कुलीन प्रथा, बहु-विवाह आदि को दूर कीजिये। लड़कियों को भी पढाइये। सब लोग आपस में मिलिये।'[15] अतः स्पष्ट है कि दलित मानव की उन्नति तथा मानव जाति का पथ प्रशस्त करने के हेतु भारतेन्दु ने सामाजिक एवं धार्मिक रूढियों का विरोध भी किया है। धर्म के नाम पर छुआछूत एवं आडम्बर प्रियता की बढती हुयी प्रवृत्ति की भारतेन्दु ने निन्दा की[16] क्योकि इस प्रकार के आडम्बर मानव-मानव में भेद भाव की दीवार खडी कर देते थे-

अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन प्रीति छुडाय।
किये तीन तेरह सबै चौका चौका लाय।।[17]

धर्म की मूल भावना से रहने वाले हिन्दुओं ने धर्म के नाम पर आडम्बरों को प्रश्रय दे रखा था। भारतेन्दु के मतानुसार "धर्म हमारा ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से वा एक चुल्लु पानी से भर जाता है। कच्चे गले सडे सूत व चिउंटी की दशा हमारे धर्म की हो गयी है।"[18] वर्ण व्यवस्था, जाति प्रथा एंव

अन्य आडम्बरो के कारण होने वाली दलित वर्ग की दयनिय दशा एवं सामाजिक हानियों का वर्णन करते हुये भारतेन्दु लिखते हैं-

"रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहि धुलाए।
खान पान संबंध सबन सों बरजि छुडायों।।"[19]

इसी प्रकार प्रेमधन जो भी प्रचलित परिपाटी एवं कुप्रथाओं का अंधानुकरण करने की प्रवृत्ति को निन्दनीय ठहराते हैं तथा धार्मिक आडम्बरों की व्यर्थता का बोध कराते हैं।[20] अंधविश्वासों की जंजीरों में जकडे हुए हिन्दुओं को सम्बोधित करते हुये कवि उन्हें सचेत करता है-

'नित्य नवीन धर्म पथ पर रचकर ठग तुमको बहकाते।
स्वर्ण छोड तुम रास राशि लेकर प्रसन्न दिखलाते।।'[21]

अतः स्पष्ट है कि इस युग के कवि परिपाटी, कुप्रथा एवं आडम्बरों को त्याग कर धार्मिक उदारता अपनाने की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं। इस सन्दर्भ में डा० केशरी नारायण शुक्ल का कथन है कि - "भारतेन्दु युग के लेखक धार्मिक झगडों से बचना चाहते हैं, क्योंकि इनको धार्मिक वाद विवाद में कोई सार दिखायी नही देता। इन कवियों का दृढ़ विश्वास है कि समस्त धर्मो के मूल सिद्धान्त एक हैं और सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर संकेत करते हैं प्रेम ही इन कवियों का धर्म है।'[22]

इस प्रकार आलोच्य काल के लेखकों ने वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्यता एवं धर्म के नाम पर पनपने वाली कुरीतियों का खण्डन किया। तत्कालीन समाज में दूसरी एक विघातक प्रवृत्ति बढती जा रही

थी, वह काले–गोरे रंगभेद की नीति। ब्रिटिश शासन भारतीय जनता का शोषण ही नही कर रहा था, अपितु वह उसकी सांस्कृतिक जडे भी खोखली बना रहा था। यहाँ के नागरिक भी पश्चिमी सभ्यता का आँख मूँदकर अनुकरण कर रहे थे। युगीन कवियों को यह बात अखरने लगी। उस काल की कविता में इन 'बाबू' लोगों के प्रति व्यंग्य एवं आक्रोश का भाव दिखायी पडता है। पश्चिमी सभ्यता की मानसिक दासता की 'तत्वहीनता' और 'झूठी तेजी' की ओर भारतेन्दु ने स्पष्ट संकेत किया।[23] भारतीय जनता में तेजी के साथ पनपने वाले 'बाबूकल्चर' पर प्रताप नारायण मिश्र ने तीखा व्यंग किया है।[24]

बाबू लोग अपने ही देशवासियों को नीचा, घृणास्पद एवं अछूत मानने लगे। वस्तुतः यह एक नूतन वर्ण भेद का जन्म हो रहा था। भारतेन्दु युग के कवियों ने मानवता के व्यापक दृष्टिकोण पर आधारित अपनी राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर इस नवोदित वर्णभेद की प्रतृत्ति का भी विरोध किया। उस काल में एक ओर तो काले लोग स्वयं अंग्रेज बन रहे थे और दूसरी ओर वे अधिकारों से रहित थे। उन्हें हीन माना जा रहा था। गोरों एवे कालों के बीच असमानता का व्यवहार एक अमानवीय स्थिति को जन्म दे रहा था जिसे किसी भी नैतिक प्रतिमान द्वारा उचित नही ठहराया जा सकता था। श्री दादाभाई नौरोजी को ब्रिटिश संसद में भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से नामजद किये जाने पर प्रेमघन जी ने असीम प्रसन्नता व्यक्त की थी किन्तु जब उन्हें 'काला' कहकर संबोधित किया गया तब स्वाभिमानी कवि ने निर्भीकता पूर्वक बता दिया कि कालों का

शोषण करके ही जीवित रहने वाले गौरांगप्रभु कितने कृतघ्न है–

कारनहिं के कारन गोरन लहत बड़ाई।

कार नहिं के कारन गोरन की प्रभुताई।।[25]

इस युग के लेखकों की व्यापक दृष्टि एवं मानव कल्याण की भावना से परिचालित थी। वे मानवता वादी भूमि पर स्थित थे। उनकी दृष्टि में मनुष्य को जाति–पाँति एवं रंग के आधार पर विभाजित नही किया जा सकता था। शासकों की रंग–भेद नीति के फलस्वरूप होने वाले जघन्य कृत्यों को निर्भीकता के साथ प्रस्तुत करते हुए बालमुकुन्द गुप्त लिखते हैं–

'एक काला इसलिये गया पिण्डी में गोरी से मारा।

पड़खा करते एक गोरे को ऊँघ गया था बेचारा।।'[26]

आशय यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के रक्षकों ने रंगभेद के आधार पर भारतवासियों को दीन–हीन की कोटि में रखकर 'दलित' बना दिया था। काले एवं दास होने के कारण भारतीय दलित–मानव उन सभी अधिकारों से वंचित था, जो मानव जाति के एक सदस्य के रूप में उसे प्राप्त होने चाहिए।

अतः स्पष्ट है कि मानवतावादी विचारधारा से प्रभावित भारतेन्दु युग के लेखकों ने एक समाज सुधारक की भुमिका को निभाते हुए वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्यता तथा रंगभेद की नीति आदि का विरोध करते हुए दलित–वर्ग को मानव सुलभ अधिकार दिलाने की कामना की है।

2– किसानों की असहायता का चित्रणः–

भारतेन्दु युग के साथ ही हिन्दी साहित्य में नवयुग की अवतारणा हुयी। यथार्थ परक दृष्टि वाले इस युग के लेखकों ने रीतिकालीन प्रेम के अतिशयोक्ति पूर्ण विरह वर्णन पर व्यग्यं कियें।[27] इससे उनका जीवन की समस्याओं के प्रति स्थान स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। भारतेन्दु की 'प्रात समीरन' कविता में उनकी यथार्थवादी दृष्टि का परिचय मिलता है। इस कविता में ग्रामीणों का यथार्थ चित्र अंकित किया है। भारतेन्दु के शब्दों में–

"बुझी लालटेन लिए झुकि रहे माथ।
पहरू लटकि रहे लम्बो किए हांथ।।
दही फल फूल लिये ऊंचे वाले बोल।
आवत ग्रामीण जन चले टोल–टोल।।"[28]

ग्राम जीवन में रहने वाले उस युग के किसानों और मजदूरों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। उनकी दुर्दशा के बारे में स्वयं भारतेन्दु लिखते हैं "कपडा बनाने वाले, सूत निकालने वाले, खेती करने वाले आदि सब भीख मांगते हैं– खेती करने वालों की यह दशा है कि लंगोटी लगाकर हाथ में तुंबा ले भीख मांगते हैं और जो निरूद्यम है उनको तो अन्य की भ्रांति है।"[29]

ब्रिटिश शासन भारतीय किसानों का शोषण कर रहा था। एक ओर बढते हुए कर और लगान तो दूसरी ओर मंहगायी और अकाल की चक्की में भारतीय किसान पीसा जा रहा था। भारत कोष से धन व्यय करके साम्राज्य विस्तार के लिये युद्ध लडे जाने लगे,

यहाँ के किसानों और मजदूरों के असंतोष को रोकने के लिये "प्रेस एक्ट" जैसे दमनकारी कानून बनायें गये। तात्पर्य यह है कि भारतीय जनता को हर तरह से चूस कर निःशक्त कर दिया गया। टैक्स के भार से दबे हुये किसानों और मजदूरों की दीन-हीन दशा का चित्रण करते हुए ''प्रेमधन'' अमलों की स्वार्थान्धता पर भी दृष्टिपात करते हैं।[30]

नवजागरण काल के किसानों पर लगाये गये लगान के बारे में डा0 रामविलास शर्मा लिखते हैं- ''किसानों के लिये विद्रोह के बाद जो बन्दोबस्त हुआ था, उसमें अंग्रेज लेखकों के ही अनुसार बहुत बार लगान खूब ऊँचा चढाकर आंका गया था। मध्य प्रदेश में जब यह बन्दोबस्त हुआ तो चार्ल्स इलियट, चार्ल्सग्रान्ट, ए. रसेल और कर्नल मैक्सीन आदि अंग्रेजों ने ही उसका विरोध किया। बम्बई में जो बन्दोबस्त हुआ, उसकी सर आकलैण्ड, काल्विन जैसे उत्तम वर्ग के लोंगो ने निन्दा की। गवर्नर जनरल की सभा में सर विलियम हण्टर ने तो स्पष्ट कह दिया कि सरकार ने लगान इतना बढा दिया है कि किसानों के पास अपना और अपने कुटुम्ब का पेट पालने के लिये कुछ बचता ही नही। लगान की विपत्ति के साथ दैवी प्रकोप भी हो गया तो किसान बेमौत मरे। यह समझकर कि बिना लगान कम किये अकाल से मरने वालों की संख्या कम न होगी, कर्नल बेयर्ड स्मिथ ने प्रस्ताव किया कि बंगाल की भांति सारे देश में पक्का बन्दोबस्त कर दिया जाय।''[31] अतः स्पष्ट है कि मंहगाई, अकाल एवं ब्रिटिश शासन द्वारा शोषण नीति से लगाये गये

भारी लगान से बनी हुयी इस देश के किसानों की दुर्दशा पर अंग्रेज अफसरों को भी रहम आता था। ऐसी स्थिति में देश के किसानों की निर्धनता एवं शोषित- पीडित स्थिति को अपनी आँखों से देखने वाला युगीन कवि किसानों के आत्म सम्मान का गला घोट देने वाली गरीबी का यथार्थ चित्र अंकित करने के लिये कलम चलाता है।

अकाल महामारियों तथा जमींदारों और साम्राज्यवादियों के शोषण चक्र में पिसते हुए किसान का आत्मसम्मान खो गया था। ऐसे आत्म सम्मान खोये हुये दीन हीन से दलित मानव की दुर्दशा को भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों ने अपनी कविता में अंकित किया। उन्होंने ''दीनता के वास्तविक प्रतीक किसान तथा मजदूरों को अपनी कविता का विषय बनाया।''[32] जाडा-गरमी और बरसात में कठिन परिश्रम के उपरान्त भी कृषि-श्रमिकों के हाथ कुछ नही लगता । उनके परिश्रम का फल दूसरे ही खाते हैं और उसे पूरी तरह से लूटकर पराश्रित बना दिया जाता हैं। कृषि श्रमिकों की यह पीडा बालमुकुन्द गुप्त की कविता के माध्यम से शब्द रूप में फूट पडती है-

''जिस अवसर पर अमीर सारे तहखाने सजवाते हैं,
छोटे बडे लाट साहब शिमले में चैन उडाते हैं।
उस अवसर में मर खप कर दुखिया अनाज उपजाते हैं,
हाय विधाता उसको भी सुख से नही खाने पाते हैं।
जम के दूत उसे खेतों से ही उठवा ले जाते हैं।
यह बेचारे उनके मुँह को टकते ही रह जाते हैं।''[33]

अतः स्पष्ट है कि नवजागरण काल के साहित्य में दलित किसानों की दुर्दशा का चित्रण गहरी सहानुभूति के साथ हुआ है। उनकी आर्थिक दुर्दशा एवं विपन्नता, शोक जमींदारों की शोषण नीति तथा ब्रिटिशों द्वारा लगाये गये कर एवं भारी लगान आदि का विस्तृत विवेचन करते हुये साहित्यकारों ने शोषित-पीडित किसानों को शोषण से मुक्त करने की कामना व्यक्त की है।

3- मजदूरों की असहायता का चित्रणः-

नवजागरण काल में भारतीय जनता का ऐतिहासिक विद्रोह (सन् 1857) शान्त हो चुका था। सन् 1858 ई० में ही महारानी विक्टोरिया ने अपने घोषणा पत्र में भारतीय जनता के लिये समान व्यवहार, धार्मिक सहिष्णुता एवं उनके कल्याण हेतु प्रयत्न करने के आस्वासन दिये। किन्तु ये समस्त आश्वासन घोषणा पत्र में ही अंकित रह गये। यथार्थ रूप में उन्हें कभी कार्यान्वित नही किया गया। ईस्ट इण्डिया के निरंकुश शासन से मुक्त होने की प्रसन्नता क्रमशः तिरोहित होने लगी। अतः ब्रिटिश शासन ने बुरी तरह से यहाँ के किसानों और मजदूरों का आर्थिक शोषण प्रारम्भ किया। साम्राज्यवादी ब्रिटिशों द्वारा अपनायी गयी वाणिज्य नीति ने इस देश के प्राचीन उद्योग धन्धों को नष्ट किया। फलस्वरूप अनेकों मजदूर बेकारी की खायी में ढकेले गये, साथ ही साथ भारत का समस्त धन विदेश जाने लगा। नवजागरण काल के साहित्य कारों ने इस शोषण नीति पर गहरा व्यंग्य किया है।[34] इस युग के बालमुकुन्द गुप्त तो इस आर्थिक

शोषण को 'हाडन की चक्की' की संज्ञा देते हैं।

इस प्रकार दयनीय अवस्था के कारण भारतीय मजदूरों में असंतोष की वृद्धि होती गयी केवल मजदूर ही नही बल्कि यहाँ की आम जनता मेमने की तरह चिल्लाती रही, लेकिन वह पुकार सुनने वाला कौन था।[35] ऐसे दलित मानव के प्रति युगीन कवियों के मन में गहरी सहानुभूति थी। ब्रिटिश शासन की तरह ही मजदूरों का खून चूसने वाले पूँजीपति शोषकों की भी कटु आलोचना की गयी। मजदूरों के नाश के उपरान्त क्या पूँजीपति जीवित रह पायेंगें ? क्या उनका अस्तित्व मजदूरों के खून एवं पसीने पर ही अवलम्बित नही हैं ?

इस प्रकार नव जागरण काल में मजदूरों की विपन्नता का अंकन करते हुए उनका शोषण करने वाली साम्राज्य वादी शक्तियों की भर्त्सना की गयी है।

4- नौकरों का चित्रणः-

मजदूरों की तरह ही कचहरी एवं घर के नौकरों की दयनीय दशा के प्रति भी नवजागरण के लेखकों की गहरी सहानुभूति रही है। केवल लेखन में ही नौकरों का चित्रण करके इस युग के लेखक उनके प्रति कोरी सहानुभूति व्यक्त नही करता बल्कि व्यवहार में भी ऐसी दीन दशा वाले नौंकरो के साथ गहरी मानवीय सहानुभूति का ही व्यवहार करता है। इसका प्रमाण यह है कि ''एक भारतेन्दु जी के छोटे भाई गोकुल चन्द्रजी ने इनसे कहा कि दिवान खाने का बड़ा शीशा जो कारनिस पर रखा हुआ है, उसके नीचे का अंश कुछ दूर

तक न जाने कैसे चटक गया है। भारतेन्दु जी ने उत्तर दिया कि कारनिस पर किसी नौकर ने जलती बत्ती रख दी होगी, जिसकी गर्मी पाकर शीशा चटक गया होगा। यह सुनकर गोकुल चन्द्रजी ने कहा कि नौंकरों पर अवश्य जुर्माना करूंगा, ये सब इसी तरह चीजें नष्ट कर देते हैं। भारतेन्दु ने कहा कि भाई इससे क्या फायदा होगा। हर एक वस्तु का नाश तो अवश्यंभावी है, इसमें किसी का दोष क्या? इसके अनन्तर उन्होंने वाल्मीकि रामायण का श्लोक पढा–

"सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्र्याः।

संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्।।"[36]

जिसका आशय है 'जो वर्तमान है उसका अवश्य नाश होगा।' ऐसे ही एक भारतेन्दु जी पटना के दोस्त के यहाँ पहुँचे, आवाज देने पर भी नौकरों ने फाटक नही खोला, भारतेन्दु जी रात भर फाटक के बाहर ही सोये। सुबह होने पर जब उनके मित्र को खबर मिली तब वे दौडे हुए आये और नौकरों पर विगडने लगे। भारतेन्दु जी ने उनसे कहा कि "इन नौकरों ने हमें न पहचानने के कारण फाटक न खोलकर अपना धर्म ही निबाहा है, इसलिए इन पर खपा होना उचित नही है और हमें भी शरीर को आराम देना था इसलिए यहाँ सो गये।"[37]

अतः इन घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु जी के मन में नौकरों के प्रति कितनी गहरी सहानुभूति एवं हमदर्दी थीं बालमुकुन्द गुप्त भी नौकरों की दयनीय दशा से व्यथित हो उठते हैं। वे मामूली पंखा कुली के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हैं।

पंखा कुली की दशा दयनीय है। उसके सिर पर धूल गिरा करती है किन्तु शीतल खस की टट्टी में लेटने वाले स्वामी के आराम हेतु वह डोर हिलाता है। कठिन परिश्रम के कारण यदि झपकी लग गयी तो उसकी खैर नही गालियों और लातो से उसकी पूजा होती है।[38]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नौकरों के प्रति भी नवजागरण काल में सहानुभूति व्यक्त की गयी।

5- अन्य वस्त्र एवं आवास की समस्या :-

अकाल, अतिवृष्टि, मंहगाई, बेकारी एंव महामारी जैसी आपत्तियों में फंसा हुआ भारतेन्दु युग का दलित मानव अन्न, वस्त्र एंव आवास जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं के लिये तरसता था। अकाल और महामारी दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही थी। इसका प्रमुख कारण ब्रिटिश शासन ही था। भारतेन्दु जी के मतानुसार "अब तो प्रतिवर्ष कहीं न कही दुण्काल पड़ा ही रहता है मुख्य करके अंग्रेजी राज में इसका घर है और बहुधा ऐसे सुनने में आया है कि विसूचिका का रोग जो अब सम्पूर्ण भारत खण्ड में छा रहा है, अंग्रेजी के राज के आरम्भ से इसका आरम्भ से हुआ है।" (कवि वचन सुधा, 18 मई 1874)[39]

अकाल और महामारी की इस चपेट में करीब 20 लाख भरतीयों ने अपने प्राण गंवाये। एक ओर भारतीयों ने अपने प्राण गंवाये। एक ओर भारतीय जनता अन्न वस्त्र के लिये तरस रही थी और दूसरी ओर शासन की बागडोर संभालने वाले अंग्रेज यहाँ का

सब धन विलायत ले जाने में मशगूल थे। ऐसी स्थिती में युगीन कवि आँख मूँद कर चुप नही रह सकता था। इन नंगों-भूखों की ओर किसी की दृष्टि नही जाती। भारतेन्दु युग का कवि इस प्रकार होने वाली मानव द्वारा मानव की उपेक्षा से छुब्ध हो उठता है और तब उसमें विद्रोह का स्वर प्रमुख रूप से सुनाई पडता है-

"फिर भी क्या नंगे भूखों पर दृष्टि पड़ती होगी,
सड़क कूटने वाले से तो आँख कभी लड़ती होगी?
कभी ध्यान में उन दुखियों की दशा भी लाते हो,
जिनको पहरों गाड़ी घोड़ों के पीछे दौडाते हो।
वह प्रचण्ड ग्रीष्म की ज्वाला औ उनके वे नग्न शरीर,
बन्द सेज गाड़ी पर चलने वाला क्या जाने बेपीर?"[40]

मानव की इससे अधिक दुर्दशा क्या होगी कि उसे अपने उदर पोषण के लिये पशुओ के चारे पर निर्भर रहना पड़े। लेकिन एक समय ऐसा भी आया कि अन्न के लिए तरसने वाले और पेट की जलती आग को बुझाने के लिये पशु खाद्य को पाकर संतोष मानने वाले दलित मानव को वह साग पात भी मिलना कठिन हो गया।[41] इस दर्द भरी स्थिति में पिशाच मसानों में नरमुण्डोंसे क्रीडा करते है, परन्तु हाडमांस के ढांचों में रक्त की बूँद का नाम नही है। अतः स्पष्ट है कि अन्न, वस्त्र और आवास की समस्या से पीड़ित दीन-हीन दलित मानव की दशा को भारतेन्दु युग के लेखकों ने सहानुभूति के साथ व्यक्त किया है।

6– नारी चित्रणः–

धार्मिक एंव सामाजिक रूढ़ियों से जकड़े हुए तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति भी दयनीय थी। बाल–विवाह, अनमेल विवाह, विधवा समस्या के कारण नारी का व्यक्तित्व कुंण्ठित हो चुका था। वहीं एक ओर औरत को बेटी, पत्नी एवं माता के अलावा समाज ने एक पूज्यनीय स्थान भी दिया। उसे शक्ति स्वरूपा, शक्तिदायिनी, कल्याण कारिणी एवं देवी कहा गया। उसकी पूजा अर्चना देवालयों शुभ त्योहारों एंव दैत्यों के विनाश के लिये की जाती है। वैदिक एवं उत्तर वैदिक साहित्यों से लेकर आज तक के साहित्य में औरत को एक विशिष्ट स्थना दिया गया है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' कहकर नारी को जहाँ एक ओर आसमान की ऊँचाई पर बैठा दिया गया, वहीं भक्ति काल में 'नारी' को 'ताड़न की अधिकारी' कहकर उसे पाताल में ढकेल दिया गया। एक ओर जहाँ राजमहलों की महारानी बनाकर सम्मानित किया गया, वहीं दूसरी ओर उसे कोठों पर बैठने के लिये मजबूर किया गया। उसे नर्क प्रदायिनी कहा गया। उसे उसके मान–सम्मान से वंचित रखने की साजिशें की गयी। नारियों को समाज में जो भी स्थान–पूज्यनीय, गृहणी, अपश्य सूर्या दिया है वह कभी भी उसके हित के लिये नही अपितु अपने किसी न किसी स्वार्थ के लिये दिया और जब स्वार्थ की सिद्धि हो गयी तब उसे पुनः 'पूनर्मूसको भवः' की स्थिति में रख दिया गया।[42]

अतः स्पष्ट है कि रूढ़िग्रस्त समाज में नारकीय जीवन व्यतीत करने वाली नारी की व्यथा को नव जागरण काल में शब्दरूप प्राप्त हुआ। साहित्यकारों ने अपने साहित्य में नारी की प्रगति के प्रयत्नों का समर्थन किया एंव सामाजिक कुरीतियों का विरोध करते हुए प्रकारान्तर से नारी स्वतन्त्रता का प्रति पादन किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो भारतीय नारियों को अंग्रेज नारियों की तरह समुन्नत देखना चाहते थे। इस सन्दर्भ में 'नील देवी नाटक का एक अंश दृष्टव्य है ---------" और बातों में जिस भांति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का काम-काज संभालती हैं, अपने सन्तान गण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृह दास्य और कलह ही में नही ढोती, उसी भांति हमारे गृह देवता भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति पथ का अवरोध हम लोगों की वर्तमान कुलपरम्परा मात्र है और कुछ नही है। आर्य जन-मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वादा स्त्रीगण इस अवस्था में थीं।"[43]

7- भिखारी का चित्रणः-

अकाल, महामारी, बाढ़ बढ़ते हुये टैक्स एंव लगान आदि के कारण इस युग के दलित मानव को अपनी पेट की आग को बुझाने के लिये दो कौर रोटी प्राप्त करना भी मुश्किल हो गया।

ऐसी दीन दशा में मजबूर बनकर भीख के लिये याचना करते हुये दर-दर फिरने के सिवा उसके पास अन्य कोई उपाय ही नहीं था। ब्रिटिशों द्वारा इस देश का धन विदेश लूट ले जाने के कारण पूरे भारत देश की स्थिति ही भिखारी के समान बनी हुयी थी। इस दुर्दशा का अंकन भी नव जागरण कालीन साहित्य में कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होता है। उस समय के प्रिन्स अलवर्ट के भारत आने पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखी कविता 'भारत भिक्षा' इसका ठोस प्रमाण है।

८- दलित वर्ग की मानसिक दशाः-

नवजागरण कालीन सहित्य में प्राप्त दलित-वर्ग का चित्रण देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन दलित-वर्ग अपनी मानवता खो चुका था। सामाजिक कुरीतियों से वह जकडा हुआ था, ब्रिटिश राजनीति की दासता ने उसे गुलाम बना दिया था तथा विदेशी और देशी साम्राज्यवादी शक्तियों ने उसका क्रूर शोषण किया था, उसके जीवन में कहीं भी आशा की किरण नहीं दिखायी देती थी। अतः नव जागरण काल के दलित वर्ग की मानसिक दशा निराशा के कुहासे से छाई हुयी थी। उसकी इस निराशावादी मानसिक दशा का चित्रण भी भारतेन्दु युग में किया गया। भारतेन्दु की नीलदेवी, भारत दुर्दशा तथा अंधेर नगरी जैसी कविताओं में दलित वर्ग की मानसिक दशा का चित्र अंकित हुआ है। -

" सब भाँति देव प्रतिकूल होइ एहिं नासा
अब तजहु वीखर भारत की सब आसा"(नील देवी)

तथा–

" रोअहु सब मिलिकै आबहु भारत भाई,

हा हा ! भारतदुर्दशा न देखी जाई"।[44] (भारत दुर्दशा)

अतः तत्कालीन स्थिति में पूरा देश ही दलित सी दशा से गुजर रहा था। फलस्वरूप लेखको ने व्यक्ति वादी रूप में दलित की मानसिक दशा का अंकन करते हुए पूरे देश की ही निरूपायता का चित्रण किया

किया है।

नव जागरण के साहित्यकार दलित वर्ग की दयनीय दशा में परिवर्तन लानेके लिये प्रयत्नशील थे। इसमें भारतेन्दु अग्रणी थे "भारतेन्दु भारत को धन धान्य से समृद्ध देखना चाहते थे। इसीलिए वे औद्योगीकरण की नीति के पक्षपाती थे। उनकी दृष्टि में भारत की आर्थिक स्वाधीनता अवश्य ही थी, भलें ही राजनीतिक स्वाध ीनता की भावना उनमें न जगी रही हो। बीसवीं शताबदी के प्रराम्भ में बंग–भंग आन्दोलन के साथ स्वदेशी की लहर भारत में फैली। भारतेन्दु ने इस लहर को प्रायः तीस वर्ष और पहले फैलाने का प्रयत्न किया था यह देख कर हमें आश्चर्य होता है।"[45]

अतः दलित वर्ग की दशा में परिवर्तन लाने के लिये तत्कालीन समाज सुधारकों ने जो प्रयत्न किये उसके फल की 'मंगलाशा' भी नव जागरण की कविता में दृष्टिगोचर होती है। दलित की वर्तमान दुर्दशा पर क्षोभ प्रकट करने वाले भारतेन्दु उसके भविष्य की मंगलाशा करते हुए लिखते हैं–

"सब देसन की कला सीमिट के इतही आवै
कर राजा नहिंलेह,प्रजन पै हेत बढ़ावै
गाय दूध बहु देहि तिनहिं कोऊ न सवाबै
तजि छुद्र बासना नर सबै, निज उछाह उन्नति कराहै
कहि कृष्ण राधिका नाथ जय हमहूँ जिय आनंद भरहिं"[46]

भारतेन्दु की तरह प्रेमधन को भी दलित वर्ग की दशा में आने वाले परिवर्तन की पदचाप सुनाई देती है। देश में नव शिक्षा के प्रसार से उद्योग-धन्धों की उन्नति और उसके बल पर दलित वर्ग की दयनीय दशा पर परिवर्तन लाने का सपना देखते हुए लिखते हैं-:

"लखहु उदित पूरब भयो, भारत भानू प्रकास।
उठहुँ खिलावहु हिय कमल, करहु तिभर दुखनास।।[47]

इस प्रकार नवजागरण युग में दलित वर्ग की दशा के बारे में सोच उसकी दयनीय दशा में परिवर्तन लाकर उसे खोया हुआ मानवीय सम्मान देना चाहते है।

9 - सहानुभूति का स्वरूपः-

नव जागरण काल के लेखकों द्वारा दलित वर्ग के प्रति व्यक्त सहानुभूति ब्यापक मानवता वादी रही है। भारतेन्दु जैसे समाज सुधारक कवि में पर दुख कारता एंव समाज सेवा का भाव इसी मानवता वादी विचार धारा के प्रभाव से विकसित हो गया। बृष्टि से आहत खानदेश के कई गांवों की सहायता के लिये एवं धनराशि देना तथा काशी में घूम कर चन्दा जमा करना[48], अपनी बेटी के विवाह

की चिन्ता से ग्रस्त एक व्यक्ति को बहुत सारा घन दे देना[49] आदि अनेक घटनाएं ऐसी हैं जिनमें भारतेन्दु की मानवतावादी विचार धारा दिखायी देती है। सभी भेद भाव भूल कर मानव-मानव में समानता एंव एकता प्रस्थापित करने की इच्छा से वे लिखते हैं-

हम सो कछु आस नहीं ये तो सब विधि बुधि बल हीन
बीना एकता बुद्धि कला के भए सबहिं विधि दीन।।[50]

नर नारी की समानता का प्रतिपादन करते हुऐ वे लिखते हैं-

"खल गनन सो सज्जन दुखीमत होई, हरि पद रति रहै।
उपधर्म छूटे, सत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै।।,
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होंहिं, सब सुख लहैं।"[51]

इसी मानवतावादी विचार धारा से प्रभावित कवि प्रेमधन भी दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते समय धर्म के नाम पर पनपने वाले बैरभाव का विरोध करते हुए धर्म का वास्तविक लक्ष्य मानव प्रेम घोषित करते हैं। जब धर्म मानव सहानुभूति से रिक्त हो उठे तब उसमें पतन के चिन्ह दिखायी पडते हैं। उनके काव्य में यही मानवता वादी विचार दिखायी देती है-

"है असार सचमुच संसार।
मानव जीवन है दिन चार।
जिसने किया न पर उपकार
बार-बार उसको धिक्कार।"[52]

इस प्रकार भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों द्वारा दलित वर्ग के प्रति व्यक्त सहानुभूति का स्वरूप मानवतावादी ही रहा है।

निष्कर्षः-

नव जागरण से ही हिन्दी जगत में आधुनिक युग का सूत्र पात होता हैं। इसके पहले रीतिकाल में कविता कामिनी राजमहलों में राजाओं का दिल बहलाने के लिये पूरी तरह से श्रृंगारिकता में खोयी हुयी थी। नवजागरण काल में ही कवियों ने एक क्रान्ति कारी कदम उठाया और कविता को राजमहलों से बाहर निकालकर उसका सम्बन्ध सीधे मानव के साथ जोड़ दिया। फलस्वरूप इन कविताओं के माध्यम से शोषित, पीड़ित, उपेक्षित मानव की व्यथा शब्द रूप ग्रहण करने लगी। अतः यहीं से दलित मानव को साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी। इस दिशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का योगदान दलित वर्ग के लिये बरदान साबित हुआ है। भारतेन्दु स्वयं समाज सुधारक थे। फलस्वरूप समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था एंव अस्पृश्यता जैसी कुप्रथा, किसानों मजदूरों एवं नौकरों की असहाय स्थिति अन्न, बस्त्र एवं आवास की समस्या, नारी की दुर्दशा तथा भिखारी आदि को देखकर उनके अन्दर का समाज सुधारक खौल उठा और सामाजिक क्रान्ति के माध्यम से पीड़ित दलित मानव को न्याय प्रदान करने हेतु उन्होंने कलम उठाई।

दलित वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति का भाव व्यक्त करते हुए भारतेन्दु युग के कवियों ने उसकी वर्तमान दुर्दशा के लिये साधन सम्पन्न व्यक्तियों तथा ब्रिटिश शासकों को उत्तरदायी माना है। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के प्रति इन कवियों ने आक्रोश व्यक्त किया है। मनुष्य जाति में स्वामी एवं गुलाम के दो भिन्न वर्ग उन्हें

स्वीकार नहीं हैं। फलस्वरूप स्वाधीनता के साथ ही उन्होंने दलित वर्ग की उन्नति एवं मानव समानता का जय घोष किया है।

इस काल के साहित्य में प्राप्त दलित वर्ग का चित्रण संख्यात्मक दृष्टि से भले ही कम हो फिर भी गुणात्मक दृष्टि से उसका महत्व अधिक है। जिस दलित वर्ग की, समाज की तरह ही साहित्य के क्षेत्र में भी उपेक्षा की जाती थी उसे साहित्य के क्षेत्र में बड़े सम्मान के साथ लाने का महत्वपूर्ण कार्य नवजागरण काल के साहित्यकारों ने किया है। दलित वर्ग को साहित्य जगत में आने के लिये उन्होंने प्रवेश द्वार खोल दिया और यहाँ से प्रविष्ट दलित वर्ग ही आगामी साहित्यिक धाराओं में व्यापक पैमाने पर महत्व प्राप्त कर सका।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 अंग्रेजी हिन्दी शब्द कोश/फादर कामिल बुल्के

2 हिन्दी साहित्य कोश/ पृ0 369

3 हिन्दी साहित्य कोश/ पृ0 369

4. रामधारी सिंह दिनकर/ संस्कृति के चार अध्याय/ उदयाचल प्रकाशन पटना, द्वितीय संस्करण पुनर्मुद्रण-1977/ पृ0- 586

5. डॉ0 सरयू प्रसाद मिश्र/आधुनिक हिन्दी कविता में व्यक्तिगत अंकन/पुस्तक संस्थान कानपुर, प्रथम संस्करण-1977/ पृ0- 29

6. नरेन्द्र देव वर्मा/प्रयोगवाद की युगीन भूमिका/अनुसंधान प्रकाशन कानपुर, 1964/ पृ0- 63

7. डॉ0 रामविलास शर्मा/साहित्यिक निबन्ध/स0 राजनाथ शर्मा/ पृ0- 95

8 नरेन्द्र देव वर्मा/ प्रयोगवाद की युगीन भूमिका/ पृ0-63

9 डॉ0 शम्भू नाथ पाण्डेय/आधुनकि हिन्दी काव्य में निराशावाद/ पृ0-58

10 डॉ0 रामविलास शर्मा/भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा/ पृ0-100

11. किशोरीलाल गुप्त/ भारतेन्दु एवं अन्य सहयोगी कवि/ पृ0-2

12. डॉ0 रामविलास शर्मा/ भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा/पृ0-4

13. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी/ हिन्दी साहित्य/ पृ0-382

14. डॉ0 रामविलास शर्मा/ भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा/पृ0-14

15. श्री वृजरत्न दास /"भारतेन्दु हरिचन्द्र" / पृ0-96

16 भारतेन्दु नाटकावली/ पृ0-604

17. भारतेन्दु नाटकावली/ पृ0-605

18. भारतेन्दु के निबन्ध/सं0 डॉ0 केशरी नारायण शुक्ल/प्रथम सस्करण/ पृ0-605

19 भारतेन्दु नाटकावली/ पृ0-605

20. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग/ पृ0- 364

21. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग/ पृ0-364

22 डॉ0 केशरी नारायण शुक्ल/आधुनिक काव्य धारा/ पृ0-56

23. भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड/ पृ0-810

24. डॉ0 रामविलास शर्मा/ भारतेन्दु युग, चतुर्थ संस्करण/पृ0-128

25. प्रेमघन सर्वस्व/प्रथम भाग/ पृ0- 375

26 बालमुकुन्द गुप्त/ निबन्धावली, प्रथम भाग/ पृ0- 625

27. बालमुकुन्द गुप्त /निबन्धावली, प्रथम भाग/ पृ0- 673

28. भारतेन्दु ग्रन्थावली/दुसरा खण्ड/ पृ0-688

29. डॉ0 रामविलास शर्मा/ भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा/पृ0-5

30 प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग/ पृ0-186
31 डॉ0 रामविलास शर्मा/ भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा/ पृ0-10-11
32. डॉ0 केशरी नारायण शुक्ल/आधुनिक काव्य धारा/पृ0-30
33. बालमुकुन्द गुप्त, निबन्धावली, प्रथम भाग/ पृ0-627
34 भारतेन्दु नाटकावली/ पृ0-598
35 'प्रजा मेमने सी चिल्लाय। बनै राये नहि आवे गाय।
अक्की बक्की गई भुलाय। इनकी ईश्वर करो सहाय।।'
प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग/ पृ0-587
36 बाल्मीकि रामायण/अयोध्याकाण्ड, सर्ग-105, श्लोक-16
पुस्तक-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र/ ले0 श्री ब्रज रत्नदास/पृ0-149
37 भारतेन्दु हरिश्चन्द/ लेखक- श्री ब्रजरत्नदास/ पृ0-151
38 बालमुकुन्द गुप्त, निबन्धावली, प्रथम भाग/ पृ0-624
39 डॉ0 रामविलास शर्मा/भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा/ पृ0- 5
40 बालमुकुन्द गुप्त, निबन्धावली, प्रथम भाग/ पृ0-624
41 रामविलास शर्मा/ भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा/ पृ0-109
42 जिया लाल आर्य/ दलित कहाँ जाए/ पृ0- 13
43. भारतेन्दु नाटकावली/ पृ0- 643
44. डॉ0 किशोरी लाल गुप्त/ भारतेन्दु एवं अन्य सहयोगी कवि/ पृ0- 228
45 डॉ0 किशोरी लाल गुप्त/ भारतेन्दु एव अन्य सहयोगी कवि/ पृ0- 239
46 डॉ0 किशोरी लाल गुप्त/भारतेन्दु एवं अन्य सहयोगी कवि/ पृ0- 231
47 डॉ0 बृजरत्नदास/ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र/ पृ0- 76
48 श्री बृजरत्नदास/ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र/ पृ0- 76
49 श्री बृजरत्नदास/ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र/ पृ0- 74
50 डॉ0 किशोरी लाल गुप्त/भारतेन्दु एवं अन्य सहयोगी कवि/ पृ0- 229
51 भारतेन्दु नाटकावली/पृ0- 490
52. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग/ पृ0-136

द्वितीय अध्याय

दलित आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और स्वरूप

A-प्रारम्भिक नवजागरण कालीन दलित चेतनाः-

B- आधुनिक दलित आन्दोलन का स्वरूपः-

दलित की परिभाषाः-

दलित पद (शब्द) का अर्थ जानने के लिए इसकी व्युत्पत्ति पर ध्यान देना आवश्यक है। दलित शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत धातु 'दल' से हुयी है। अतः इस शब्द के सन्दर्भ में विभिन्न शब्दकोशों में विभिन्न अर्थ दिये गये है। जैसे-

1. दल- (अक)- विकसना, फटना, खण्डित होना।

   दल- (सक.)- पूर्ण करना, टुकडे करना, विदारना।

   दल- (नपु.)- सैन्य, लश्कर, पत्र, पत्ती।[1]

2. दल- (दलित, दलित)

   दलित- टू बर्स्ट, ओपन, स्प्लिट, क्लेव, क्रँम 'दलित हृदय गाढोद्वेगं द्विधा तु न विद्यते'। (वेदनाओं के कारण हृदय के टुकडे होते हैं नाश नहीं।)

   दलित- पी0पी0 ब्रोकन, टार्न, बर्स्ट, रेन्ट, स्प्लिट।[2]

   संस्कृत तथा मराठी शब्द कोशो हिन्दी शब्दकोशों में भी 'दलित शब्द का अर्थ' विनष्ट किया हुआ ऐसा ही दिया हुआ है- जैसे-

   'दलित' वि (सः) (स्त्री दलिता)

   1- मसला हुआ, मर्दित।

   2- दबाया, रौंदा या कुचला हुआ।

3– खण्डित

4– विनष्ट किया हुआ।[3]

अतः स्पष्ट है कि 'दलित' शब्द का अर्थ एवं व्याप्ति विभिन्न शब्दकोशों में विभिन्न रूपों में प्राप्त होती है। शब्दकोंशों में प्राप्त 'दलित' शब्द का अर्थ देखने के बाद इस बात से अवगत होना आवश्यक है कि इस शब्द का प्रयोग भारत में कब और किस रूप में हुआ।

सन् 1930–33 के दरम्यान उस समय की सरकार ने जो 'जातीय निर्णय' ले लिया उसमें 'डिप्रेस्ड क्लासेस' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है 'पददलित'। 'पददलित' शब्द 'दलित' शब्द के लिये ही पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसी समय भारत में समाजवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ और इस विचारधारा के अन्तर्गत आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से जो वर्ग दबा हुआ, कुचला हुआ एवं शोषित है ऐसे वर्ग को महत्व प्राप्त हुआ और उस वर्ग को ही 'दलित वर्ग' के रूप में देखा गया। इस प्रकार उन्नीसवीं शदी से ही भारत में 'दलित' शब्द का प्रयोग होता रहा है।

प्राचीन साहित्य में शूद्र, अतिशूद्र, चाँण्डाल, अंत्यज, अस्पृश्य आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है, ये सभी शब्द 'दलित' शब्द के ही पुरखे हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि 'अस्पृश्य' शब्द का अर्थ 'स्पर्श करने के लिये अपात्र' होने के कारण प्रस्तुत शब्द घृणास्पद हो गया है। अतः इस शब्द के बदले कुछ विचारकों ने 'अस्पृष्ट'[4] 'पंचम' एवं 'हरिजन'[5] तथा 'बहिष्कृत'[6] जैसे

शब्दों का प्रयोग किया। ये सभी शब्द भी 'दलित' शब्द के ही समानार्थी है।

भारतीय वर्ण व्यवस्था में शूद्रो को चतुर्थ श्रेणी में रखा गया है। लेकिन सभी शूद्रों को कश्यप नही माना गया है। इसके विपरीत कहीं-कहीं उच्च वर्गीय भी शूद्र माने गये हैं। हिन्दू विधि के आधार पर बंगाल के अश्यप भी शूद्र हैं। इतना ही नही छत्रपति शिवा जी महाराज के कुल के तंजौर (तंजावर) के राजा भी शूद्र माने गये हैं। इससे पता चलता है कि सभी शूद्र अस्पृश्य नही थे।[7]

मद्रास में अस्पृश्यों को 'पंचम' कहा जाता है। इन्हीं पंचमों को स्वामी विवेकानन्द जी ने 'दलित वर्ग' कहा है। अतः सवाल यह है कि यदि सभी 'शूद्र' अस्पृश्य नही है तो सभी 'दलित' अस्पृश्य है या नहीं।

सन् 1916 माणेक जी दादाभाई ने इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में दलित वर्ग की सहायता की मांग की, जिसमें उन्होंने दलित वर्ग के अन्तर्गत घुमंतु जाति, जरायमपेशा, खानाबदोश और अस्पृश्य का अन्तर्भाव किया था। अतः उन्होने केवल 'अस्पृश्यों' को ही दलित नही कहा है।

लेकिन साइमन कमीशन की सहायता के लिये नियुक्त नायर समिति ने दलित वर्ग के रूप में केवल अस्पृश्यों की ही गिनती नहीं की, और लार्ड लोयिअन की अध्यक्षता में नियुक्त समिति ने भी दलित वर्ग के अन्तर्गत केवल अस्पृश्यों को ही समाविष्ट किया है । फल स्वरूप 'दलित' शब्द 'अस्पृश्य' शब्द के अर्थ तक ही सीमित

रहा। हिन्दुस्तान में मान्तेग्यू-चेम्सफर्ड सुधार के समय से ही अस्पृश्यों की समस्याओं की ओर ध्यान दिया गया। दूसरे विश्वयुद्ध में हिन्दुस्तान ने इंग्लैण्ड की मदद की इसलिये अंग्रेज सरकार ने यहाँ के 'डिप्रेस्ड क्लासेज' के समाज को कुछ न कुछ अधिकार देने का वादा किया। किन्तु 'डिप्रेस्डक्लासेज' की सूची में केवल अस्पृश्य ही नही थे। सामाजिक एवं आर्थिक कारणों से पिछड़े हुये समाज का उल्लेख उस सूची में किया गया था। इसके विपरीत दस वर्षीय जनगणना के समय बम्बई, मद्रास, और मध्यप्रान्त में 'डिप्रेस्डक्लासेज' शब्द का प्रयोग केवल 'अस्पृश्य' लोगों के लिये ही किया गया है।

अतः स्पष्ट है कि विभिन्न समय पर डिप्रेस्ड़क्लासेज, अस्पृश्य, हरिजन, शूद्र, दलित आदि शब्दों का प्रयोग विभिन्न अर्थो में प्रयुक्त किया गया है। किन्तु अपने विषय से सम्बन्ध रखने वाले 'दलित' शब्द की व्याप्ति के बारे में देखा जाये तो 'दलित वर्ग' के अन्तर्गत अस्पृश्य, शुद्र, हरिजन तथा डिप्रेस्ड क्लासेज के सभी लोग आयेंगें। इसके साथ ही उच्च एवं समृध्दि समाज के पैरो तले कुचला हुआ आर्थिक शोषण से शोषित तथा दबा हुआ जिसका मानवीय जीवन विनष्ट हुआ हो, ऐसे सभी चाहे वे किसी भी जाति के हों, किसी भी लिंग के हो दलित वर्ग के अन्तर्गत आयेंगें।

भारत की सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में दलित की स्थिति-

चातुर्वर्ण की उत्पत्ति के बारे में प्राचीनतम अनुमान ऋृग्वेद के

पुरूष सूक्त में वर्णित, सृष्टि सम्बन्धी पुराकथा में पाया जाता है। इस संहिता के दशम मंडल में (यह) विषय वाद में अंतर्वेशित किया गया है। लेकिन उत्तर वैदिक साहित्य में और गाथा, काव्य पुराण तथा धर्म शास्त्र की अनुश्रुतियों में भी इसे कुछ हेर फेर के साथ प्रस्तुत किया गया है) कहा गया है, कि ब्राह्मण की उत्पत्ति आदिमानव (ब्रह्मा) के मुँह से, क्षत्रिय की उनकी भुजाओं से, वैश्य की उनकी जंघाओं से तथा शूद्र की उत्पत्ति उनके पैरों से हुयी थी। इससे तो यह स्पष्ट है कि शूद्र और तीन अन्य वर्ण एक वंश के थे और इसके फलस्वरूप वे आर्य समुदाय के अंग थे अथवा इसके द्वारा विभिन्न जातियों को ब्राह्मणीय समाज में उत्पत्ति की कहानी के द्वारा मिलाने का प्रयास किया गया है। पुरुष सूक्त ऋग्वेद के अन्तिम अंश में है और इसे कालक्रम की दृष्टि से ऋृग्वैदिक युग के अन्त का माना जाता है।[8]

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भारतीय सामाजिक संरजना का आध ारभूत सिद्धांत है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारो वर्णो पर आधारित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ऋृग्वेद काल से लेकर आज तक, अपने किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। आज का 'दलित' और पुराने जमाने के शूद्र में विशेष समानता दिखायी देती है। फलस्वरूप पुराने जमाने की समाज व्यवस्था के सन्दर्भ में 'शूद्र' की स्थिति क्या थी यह देखना अनिवार्य है।

प्राचीन काल में शूद्र की स्थिति नगण्य एवं उसका जीवन निरर्थक था। उस समय शूद्रों का कर्तव्य था कि वे दास्य भाव से ब्राह्मणों की सेवा शुश्रुषा करते रहें। इस शुश्रुषा कार्य में बाधा न

हो तभी शूद्र अन्य काम करके अपनी आजीविका प्राप्त कर सकते थे। प्राचीन धर्म ग्रन्थों में कर्म और विद्या का सम्बन्ध शूद्र के साथ हो ही नही सकता, यही बताया है क्योंकि धर्म ग्रन्थों के अनुसार इस विषय में शूद्र का अधिकार ही नही है। वर्ण व्यवस्था पर आधारित दण्ड विधान तो शूद्र के बारे में अत्यन्त कठोर हैं। ब्राह्मण या क्षत्रिय को भलाबुरा कहने वाले शूद्र की जिह्वा काट ली जाती थी। धर्म शास्त्रकारों ने शूद्र को दण्डित करने में इस सामान्य नियम का प्रतिपादन किया है, शूद्र ने अपने जिस अंग से द्विजातियों का अपराध किया है, उसके उसी अंग को काट लिया जाना चाहिए। शूद्र के लिये दिया जाने वाला प्राण दण्ड वस्तुतः प्राण दण्ड ही होता है, जबकि ब्राह्मण के लिये वास्तविक प्राणदण्ड न होकर तत्स्थानीय सिर मुंडा देना तथा नगर के बाहर निकालना आदि दण्ड की व्यवस्था कर ली गयी है। ब्राह्मण को शरीरिक दण्ड नही दिया जा सकता है। 'अक्षतः ब्राह्मणो ब्रजेत' इति।[9]

शूद्र किसी वर्ण की स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो उसके लिंग को काट दिया जाता था या उसका वध कर दिया जाता था। लेकिन यदि ब्राह्मण किसी शूद्र स्त्री से व्यभिचार करे तो उसको कोई दण्ड नही दिया जाता था, बल्कि यह धारणा थी कि ऐसे संसर्ग से शूद्र स्त्री स्वर्ग में जाने का अधिकार प्राप्त कर लेती है। केवल इसी एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण व्यवस्था की चहार दीवारी में शूद्र की सामाजिक स्थिति कितनी दयनीय थी।

प्राचीन काल में शूद्र की सामाजिक स्थिति जिस रूप में थी, उसी तरह वह आगे चलकर जाति प्रथा के अन्तर्गत बनी रही। प्रारम्भ में शूद्र को बताने के लिये 'वर्ण' पद का प्रयोग हुआ करता था 'जाति' शब्द का नही। कालान्तर में वर्ण और जाति शब्द एक दूसरे के अर्थ को प्रतिपादित करने के लिये प्रयुक्त किये जाने लगे। इस प्रकार वर्ण और जाति ये दोनो ही शब्द परस्पर समानार्थक अथवा पर्यायवाची माने जाने लगे। किन्तु आगे चलकर वर्ण का स्थान जाति ने सर्वथा के लिये ले लिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि वर्ण पद इस समय कोष की शोभा मात्र बनकर रह गया है। संप्रति जाति की दृष्टि से शूद्र जाति की यह स्थिति है कि शूद्र जाति के नाम से कोई जाति ही उपलब्ध नही होती है, यद्यपि शूद्र जाति के अन्तर्गत आने वाली अनेक जातियों का अस्तित्व उनके नाम से प्राप्त होता है।[10] आज शूद्र जाति नाम से अलग जाति न होने के बावजूद शूद्रो की सामाजिक स्थिति और जाति प्रथा में अछूतों, हरिजनों एवं दलितों की सामाजिक स्थिति और जाति प्रथा में अछूतों, हरिजनों एवं दलितों की सामाजिक स्थिति में कोई अन्तर नही हैं। ब्राह्मण और शूद्र का जो नाता प्राचीन काल में था वही जाति व्यवस्था में भी बना रहा। जाति व्यवस्था में आदमी का सामाजिक अस्तित्व उसके जन्म पर निर्भर था, न कि उसकी योग्यता एवं सम्पत्ति पर। जाति व्यवस्था पदानुक्रमित श्रेणी श्रृंखलाबद्ध थी और इसीलिये सामाजिक और न्यायिक विषमता पर आधारित थी । सामाजिक पिरामिड में शीर्षस्थ ब्राह्मण जाति के लोग धार्मिक और सामाजिक क्रियाकलाप में पुरोहित का कार्य कर

सकते थे और उच्च धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति के एक मात्र अधिकारी भी वे ही थे। इस पिरामिड के निम्नतम ध रातल पर शूद्रों, अछूतों की जगह नियत थी, जिन्हें धर्म के द्वारा पुनीत घोषित और राज्य की अवपीडक सत्ता द्वारा समर्थित हिन्दू समाज ने अन्य जातियों की सेवा करने और हल खोर, चमार आदि पेशों जैसा निम्न कार्य करने के लिये बाध्य कर रखा था।[11] ऐसी जाति व्यवस्था के कारण व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व की उन्नति के लिये आजादी नही थी। सरकारी कानून भी एक जैसे नही थे। वे अलग-अलग थे। जाति व्यवस्था में ऊँची और नीची जाति के लोगों का स्तर भिन्न-भिन्न था। नीची जाति के लोंगों को शहर या गांव में अलग जमीन पर बसाया जाता था। उन्हें मन्दिरों में प्रवेश नही दिया जाता था। सवर्णो के कुओं और तालाबों से पानी भी नही मिलता था। अछूतो पर दृष्टिपात होने मात्र से लोग अपवित्र हो जाते थे, और यदि कोई अछूत किसी ब्राह्मण के सामने आ जाये तो उसे कठोर सजा भी मिलती थी। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था में शूद्रों की जो स्थिति थी, वही स्थिति जाति व्यवस्था में नीची जातियों की थी। भारतीय समाज में यह जाति व्यवस्था बहुत दिनों तक बनी रही। पदानुक्रमित श्रेणी श्रृंखला, सामाजिक असमानता, सजातीय व्याह भोजन पर प्रतिबन्ध, पेशो के चुनाव में स्वतन्त्रता का अभाव ये ही जाति प्रथा के प्रमुख लक्षण बन चुके थे। मूलतः भारतीय जनता के आर्थिक अस्तित्व के अविकसित होने के कारण जाति प्रथा सदियों तक फलती फूलती रही। जिस प्राक् पूँजीवादी अर्थतन्त्र पर यह आश्रित थी गांवो का स्वशासन,

विनिमय सम्बन्धों का अपूर्ण विकास और यातायात के अक्षम और स्वल्प साधन इसके आधार थे।[12]

आगे चलकर अंग्रेजी शासन काल में जिन आर्थिक शक्तियों का जन्म हुआ, उन्होने जाति व्यवस्था का आर्थिक आधार ही धराशायी कर दिया। शनैः-शनैः जाति प्रथा का हास होने लगा। इस कार्य में जाति प्रथा विरोधी आन्दोलनों के साथ ही वर्ग संघर्ष, राजनीतिक आन्दोलन, आधुनिक शिक्षा नया न्यायतंत्र आदि का भी योगदान रहा है। शहरीकरण के कारण जाति प्रथा का कुछ अंशों में ह्रास हुआ है। लेकिन शूद्रों, अस्पृश्यों एवं दलितों की सामाजिक स्थिति एक सी रही है। आज के 'दलित' की स्थिति जाति व्यवस्था के अस्पृश्यो एवं वर्ण व्यवस्था के शूद्रों जैसी ही है। आज का दलित देहातों में रहकर कपड़ा, घर पानी एवं रोटी के लिये मोहताज रहता ही है। आज शहरों में उसको सामाजिक दृष्टि से समानता प्राप्त हुयी सी महसूस होती है। लेकिन देहाती समाज में दलित की वही दयनीय एवं विपन्न दशा है जो शूद्रों एवं अस्पृश्यों की थी।

शहरों में भी यदि हम गहराई से देखें तो पता चलेगा कि ऊंचे महलों में रहने वाले अमीरों की चक्की में झोपडी में रहने वाला गरीब मजदूर वर्ग दलित बनकर पीसा जा रहा है। उसकी सामाजिक स्थिति शहरों में रहते हुये भी अत्यन्त दयनीय है। शहरों में अस्पृश्यता कम हो गयी है, लेकिन अस्पृश्यता नष्ट होने मात्र से दलितों का दुःख नष्ट नही हो सकता है। एक ओर अस्पृश्यता को मिटाना ओर दूसरी ओर हरिजन, महार, चमार, मातंग आदि जातियों

का बना रहना, इस तंत्र से दलितों का दुःख भी बना रहता है। इसके लिये तो अनिवार्य यह है कि भारतीय संस्कृति एवं धर्मग्रन्थों में ही परिवर्तन लाया जाये। अनादि काल से जाति और भगवान भारतीय संस्कृति के अंग बन चुके हैं। धर्मग्रन्थों के रचयिताओं को जिस प्रकार भगवान का स्थान दिया जाता है वही स्थान अस्पृश्यता के निर्माताओ को देना कहाँ तक तर्क संगत है? अस्पृश्यता बनी रहने के पीछे किसी एक कल्पित भगवान का या किसी विशिष्ट व्यक्ति का हाँथ नही है, बल्कि अस्पृश्येतर भारतीय समाज ने ही प्रस्तुत जाति व्यवस्था को बनाये रखा है।[13] अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय समाज संरचना में जब तक जाति व्यवस्था बनी रहेगी तब तक अस्पृश्य अस्पृश्य ही रहेगा और दलित दलित ही रहेगा।

महात्मा गाँधी का दलितोद्धारः–

एक समाज सुधारक के रूप में आधुनिक भारत में दलित को समाज में बराबरी का हक दिलाने का पहला प्रयास गाँध ी जी ने किया। महात्मा गाँधी जी का व्यक्तित्व भारतीय समाज में उभरने के पूर्व ब्रह्म समाज, आर्यसमाज आदि ंस्थाओं ने सामाजिक क्षेत्र में सुधार के अनेक प्रयत्न किये थे, किन्तु उनका परिणाम विशेष फल नहीं दे सका था। गाँधी भारतीय समाज में आमूल परिवर्तन के पक्षपाती थे। उन्होंने देश में प्रचलित अनेक बुराइयों, कुरीतियों परम्पराओं एवं रूढियों को दूर करना अपना प्राथमिक कर्तव्य मानते थे। इसी लिये उन्होंने समाज की प्रत्येक गतिविधि का सूक्ष्मता

से अध्ययन किया ओर परिवर्तन की दिशायें सुझायी। अहिंसा की नींव पर एक सुन्दर समाज की स्थापना करना उनका लक्ष्य था। जिस रूप में गाँधी जी समाज की स्थापना करना चाहते थे उसका वर्णन करते हुये डॉ0 अरबिन्द जोशी लिखते हैं– "वे (गाँधी जी) एक ऐसा समाज चाहते थे, जिसमें स्त्री–पुरूष को समान अधिकार प्राप्त हों, सब परस्पर प्रेम–भाव से रहें जहाँ साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यता जैसी कुरीतियाँ न हों, गाँधी जी की रामराज्य की स्थापना देश के सामाजिक उत्थान की चरम सीमा है।"[14]

अस्पृश्यता के बारे में गाँधी जी 'हरिजन सेवक' में लिखते हैं– 'अस्पृश्यता का घाव इतना गहरा चला गया है कि इसका जहर हमारी रग–रग में फैल गया है। ब्राह्मण अब्राह्मण के भेद भाव की ओर अलग–अलग धर्मो के बीच भेद भाव की जड़ अस्पृश्यता में ही है। अस्पृश्यता का यह जहर क्यों रहना चाहिए ?[15]

गाँधी जी राष्ट्रीय एकात्मकता की दृष्टि से अस्पृश्यता निवारण अनिवार्य समझते थे। अस्पृश्यता पर 'हरिजन' में प्रकाशित आर. सी. प्रसाद सिहं की कविता उल्लेखनीय है–

रे कौन तुम्हें कहता अछूत ?
तुम तो प्रभु की सच्ची विभूति।
यह पतित प्रताडित दीन जाति
मांगती तुम्ही से आज भीख।
तुम क्षमाशील कर क्षमा इसे

दे दो नव युग की स्वर्ण सीख।

इन भू देवों को जरा आज

दे दो अपना पद रज उदार

वह वृद्ध भिखारी डोल रहा

झोली ले तब हित द्वार-द्वार

रे कौन तुम्हें कहता अछूता ?[16]

आपस के जातीय एवं प्रान्तीय भेद भाव जब तक नहीं मिटेंगे, तब तक भारत एकात्म नही बन पायेगा। उनका कहना है कि 'हम सारे भारत को अपना परिवार क्यों न मानें? और दरअसल सारी मनुष्य जाति हमारा परिवार है। क्या हम सब एक वृक्ष की शाखाएं नहीं हैं? जब छुआछूत जड़ से नष्ट हो जायेगी, तब ये सारे भेद भाव अपने आप मिट जायेंगे ओर कोई अपने आप को दूसरों से ऊँचा नही समझेगा। इसका सीधा नतीजा यह होगा कि गरीबों और दलितों का शोषण बन्द हो जायेगा और चारो तरफ परस्पर प्रेम और सहयोग देखने में आयेगा।'[17] इन्हीं विचारों को साकार बनाने के लिये गाँधी जी ने विविध क्षेत्रों में कार्य किया। सनातनी हिन्दुओं को अस्पृश्यता निवारण की आवश्यकता समझाने के लिये उन्होंने हिन्दूधर्म का आधार लिया है।

हिन्दूधर्म में अस्पृश्यता के लिये कोई स्थान नही है। अस्पृश्यता हिन्दूधर्म तथा राष्ट्र पर लगा हुआ एक धब्बा है। इस अस्पृश्यता का न तो हिन्दू धर्म में उल्लेख है न किसी धर्म ग्रन्थ में समर्थन। अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अंग नही, बल्कि इसमें घुसी हुयी

सड़ांध है, पाप है और इसका निवारण प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, उसका परम कर्तव्य है। यदि यह अस्पृश्यता यथा समय न दूर की गयी तो हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म का अस्तित्व ही संगट में पड़ जायेगा।[18]

गाँधी जी धर्म पर विश्वास करते थे। हिन्दू धर्म के बारे में तो उनके मन में गहरी आत्मीयता है। फिर भी इनका कहना है कि यदि हिन्दू धर्म अस्पृश्यता का समर्थक हो तो मैं उसका त्याग करूंगा। इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं– 'अपने जीवन में अस्पृश्यता से मुझे इतना भयंकर कष्ट इसलिये होता है कि अपने आप को हिन्दू धर्म की भावना से ओतप्रोत एक सच्चा हिन्दू मानता हूँ। आज जिस रूप में हम अस्पृश्यता को मानते हैं और उसका आचरण करते हैं उसके अस्तित्व का एक प्रमाण मुझे उन ग्रन्थों में नही मिलता, जो 'हिन्दू धर्म शास्त्र' के नाम से पुकारे जाते है अगर मुझे पता चला कि हिन्दु धर्म सचमुच अस्पृश्यता का समर्थन करता है, तो हिन्दू धर्म का त्याग करने में मुझे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही होगी, क्योंकि मैं मानता हूँ कि कोई सच्चा धर्म सदाचार और नीतिशास्त्र के बुनियादी सत्यों के विरुद्ध नही होता।[19]

अस्पृश्यता निवारणः–

अस्पृश्यता निवारण के काम को गांधी जी एक सामाजिक काम मानते हैं। समाज की उन्नति एवं राष्ट्र हित के लिये इस कार्य को वे महत्वपूर्ण मानते थे। गाँधी जी ने अस्पृश्यता निवारण कार्य शुरू तो किया किन्तु उनको इस कार्य में ज्यादा सफलता प्राप्त नहीं हो

सकी। इसका कारण यह है कि वे भगवान और धर्म पर ही ज्यादा विश्वास करते थे। फलस्वरूप अस्पृश्यता निवारण के कार्य को वे सामाजिक महत्व कम किन्तु धार्मिक महत्व अधिक देते थे। उनके अस्पृश्यता के बारे में जो विचार हैं वे भी संदिग्ध ही लगते हैं। उन्होंने एक जगह लिखा है कि – छुआछूत दूर करना एक ऐसा प्रायश्चित है, जो सवर्ण हिन्दुओं को हिन्दू धर्म के लिये करना चाहिए। शुद्धि अछूतों की नही बल्कि ऊँची कहलाने वाली जातियों की जरूरी है। कोई ऐब ऐसा नहीं है जो खासतौर पर अछूतों के ही अन्दर हो– अपने को ऊंचा समझने वाले हम हिन्दुओं का अभिमान ही हमें अपने दोषों के प्रति अंधा बना देता है तथा हमारे दलित और पीड़ित भाइयों के दोषों को राई का पहाड़ बनाकर दिखाता है जिन्हें हम सदियों से दबाते चले आये हैं, और आज उनकी गर्दन पर हम सवार रहते हैं। भिन्न–भिन्न राष्ट्रों की तरह भिन्न–भिन्न धर्म भी इस वक्त कसौटी पर चढाए जा रहे हैं। ईश्वरीय अनुग्रह और प्रकाश का ठेका किसी एक जाति या राष्ट्र का नही है। वे बिना किसी भेदभाव के उन सब को प्राप्त होते हैं जो ईश्वर की भक्ति और आराधना करते हैं। उस जाति और उस धर्म का नामों निशान इस दुनिया से मिटे बिना नही रहेगा, जो अन्याय, असत्य और हिंसा पर श्रद्धा रखता है। ईश्वर प्रकाश है अन्धकार नही। एक ईश्वर महान है। हम उसके बन्दे, उसकी चरण रज हैं। आओ हम सब नम्र बने और ईश्वर के छोटे से छोटे प्राणी को भी इस दुनिया में जीने के हक को मान लें। श्री कृष्ण ने फटे पुराने चिथडे पहने हुये सुदामा का स्वागत सत्कार किया जैसे वैसे

उन्होंने और किसी का नहीं किया। प्रेम धर्म का मूल है। गोस्वामी तुलसीदास का कथन है-

"दया धर्म का मूल है
पाप मूल अभिमान।।"[20]

गाँधी जी के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि उन्होनें अस्पृश्यता निवारण का कार्य गहरी निष्ठा से प्रारम्भ किया, किन्तु इसमें उन्होंने धर्म और ईश्वर का सहारा लिया, जो इस बात को स्पष्ट कर देता है कि वे सनातनियों को संतुष्ट करना चाहते थे।

अस्पृश्यों के बारे में गाँधी के मन में गहरी सहानभूति होते हुए भी उनको अपनी भावनाओं को सीमित रखना पडता था। इसका कारण था कि स्वराज्य प्राप्ति आन्दोलन में गाँधी जी को सनातनी हिन्दुओं की सहायता लेनी पडती थी। वे चाहते थे कि अस्पृश्यों के लिये मन्दिरों के दरवाजे खोले जायें, लेकिन उन्होंने यदि सभी मन्दिरों में (व्यक्तिगत और सामाजिक) अस्पृश्यों के लिये प्रवेश की मांग की होती तो सवर्ण हिन्दुओं के दरवाजे गाँधी जी के लिये हमेशा के लिये बन्द हो जाते । इसलिए उन्होंने बीच का रास्ता अपना कर यह बताया कि मन्दिर प्रवेश के लिये अस्पृश्यों द्वारा आन्दोलन करने के बदले स्पृश्यों को ही अपना एक कर्तव्य समझकर यह कार्य करना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि गाँधी जी अस्पृश्यों को मन्दिर तक ले गये किन्तु मन्दिर का दरवाजा खोल कर उन्हें अन्दर तक ले जाने का काम उनसे नही बन पाया।

पूना सन्धिः–

अस्पृश्यों के नेता डॉ0 अम्बेडकर द्वारा सन् 1932 में अस्पृश्यों के लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र की मांग किए जाने पर गाँधी जी ने इस बात का विरोध किया। वे चाहते थे कि अस्पृश्य हमेशा के लिये स्पृश्यों से अलग न हो जायें। इसलिये गांधी जी ने अनशन किया और अन्त में पूना सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार अस्पृश्यों के लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र नही बनने दिया गया।

गाँधी और धर्मान्तर :–

डॉ0 अम्बेडकर ने सन् 1935 में अपने दलित बन्धुओं को धर्मान्तर का आदेश दिया लेकिन गाँधी जी ने उसका विरोध किया। गाँधी जी की धर्म विषयक मान्यता पारलौकिक थी। उनके मतानुसार 'धर्म' कोई घर या कोट नही है जो अपनी इच्छा से बदल दिया जाये। अपनी देह से भी बढ़कर धर्म अपना अविभाज्य हिस्सा है, मानव और उसका स्रष्टा इनका सम्बन्ध जोडने वाला धागा धर्म है।[21]

इस प्रकार गाँधी जी के विचार अस्पष्ट और संदिग्ध हैं। अस्पृश्यता निवारण के लिये उनके विचार पक्के थे किन्तु फिर सानातनियों को सामने देखकर वे अपने विचारों को थोडा मोड देकर बीच का रास्ता अपनाते रहे। किन्तु सनातनियों को संतुष्ट बनाये रखकर हरिजनोद्धार कार्य में सफलता पाना मुश्किल था। शायद इसी कारण वश उनका 'हरिजन सेवक संघ' पूरी सफलता प्राप्ति नहीं कर

सका।

हरिजन सेवक संघः–

सन् 1932 की पूना सन्धि के बाद गाँधी जी ने सन् 1938 तक अस्पृश्यता निवारण के सिवा किसी राजनीतिक प्रश्न के बारे में ज्यादा सोचा ही नही। उन्होंने किसी भी मूल्य पर अस्पृश्यता निवारण के लिये 30 सित0 1932 में 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। प्रस्तुत संगटन के माध्यम से अस्पृश्यता निवारण कार्य को राष्ट्रीय स्वरूप दे दिया। संघ के कार्यकर्ता घर–घर जाकर उनकी कठिनाइयों को सहानुभूति से जानने लगे और उन्हें मार्गदर्शन प्रदान करने लगे। संघ का कार्य शनैः शनैः देशभर में फैलगया किन्तु उसे अपेक्षित सफलता नहीं मिली क्योंकि संघ के कार्यकर्ता हरिजनों के बारे में हमदर्दी थी इसलिये नही बल्कि तनखाह के लिये कार्य करते थे।[22]

साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यता को जड से निकालकर एक आदर्श समाज की स्थापना करने हेतु महात्मा गाँधी जी ने उस दिशा में कार्य आरम्भ किया। उन्होंने दलितोद्धार एवं अस्पृश्यता निवारण को अधिक महत्व दे दिया। लेकिन उनका व्यक्तित्व समाज सुधारक के बदले राजनीतिज्ञ के रूप में अधिक उभरा हुआ था। स्वराज्य प्राप्ति ही उनके कार्य का परम लक्ष्य होने के कारण वे किसी जाति या वर्ग को नाराज नही करना चाहते थे। हिन्दू धर्म, ईश्वर तथा पाप और पुण्य पर उनका अधिक विश्वास था। अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिये भी वे पाप और पुन्य का सहारा लेते थे।[23] जाति

एवं वर्ग को संतुष्ट रखकर गाँधी जी स्वराज्य प्राप्ति के पथ पर अग्रसर हो रहे थे। अस्पृश्यता निवारण के आधार पर हरिजनों को संतुष्ट करते थे तो हिन्दू धर्म और ईश्वर की बात पर सनातनियों को संतुष्ट रखते थे। अतः स्पष्ट है कि अस्पृश्यता निवारण का महात्मा गाँधी जी का कार्य महान होने के बावजूद उनके इस आन्दोलन में उतनी शक्ति नही थी जितनी कि स्वराज्य प्राप्ति आन्दोलन में थी।

दलितोद्धार और अम्बेडकर :-

सात-आठ कोटि भारतीय दीन दलित समाज अज्ञानांध ाकार में तड़पता था, चातुर्वर्ण्य की परम्परा में पीसा जा रहा था, दरिद्रता की आग में जल रहा था, अपनी मानवता खो बैठा था तथा स्पृश्य सनातनियों ने मानो उस समाज की इन्सानियत ही लूट ली थी। ऐसे मृतवत अस्पृश्य दलित समाज में डा0 अम्बेडकर ने स्वअस्तित्व की सामर्थ्य, अस्मिता एवं क्रान्ति की आग जलाई, जिससे सामाजिक न्याय प्राप्ति के लिये अनेक दलित कार्यकर्ता आत्मबलिदान के लिये खड़े हुए। अम्बेडकर ने दलितों के दिल हिलाने वाले भाषणों से एक क्रान्ति खडी की। अस्पृश्यों की दयनीय स्थिति का उल्लेख करते हुये कहा 'पहले तो हम यह देखें कि हमारे अस्पृश्य माने जाने मात्र से हम पर क्या-क्या जुलुम ढाये जाते हैं। हम बच्चों को पढ़ा नहीं सकते, कुँओ से पानी नहीं खींच सकते अपने दुल्हे को घोड़े पर नहीं बैठा सकते, यदि हम अधिकार पूर्वक ऐसा करना चाहते हैं तो हमें मारा पीटा जाता है। अच्छी पोशाकें पहनने, सोने चांदी के जेवर

पहनने, पानी के लिये तांबे पीतल के बर्तनों का उपयोग करने, जमीन जायदाद खरीदने, मरे जानवरों का मांस न खाने, हिन्दुओं का जुहार न करने, शौच के लिये लोटे में पानी ले जाने आदि का विरोध किया जाता देखकर तो विदेशी भी दातों तले अंगुली दबा लेते हैं।[24]प्रस्तुत कथन से पता चलता है कि वास्तव में अस्पृश्यों का मानवीय अधिकार ही छीन लिया गया था। दलितों की सहायता के लिये तथा उनको मानवीय अधिकार के लिये डा0 अम्बेडकर ने महामानव के रूप में ही अस्पृश्यों की झोपडी में जन्म लिया।

डॉ0 अम्बेडकर ने बचपन से ही देखा था कि बाजार में कपडा ख्रीदने जायें तो दुकानदार दूर से ही कपडे फेंका करता था। भैंसो का भी मुंडन करने वाला नाई अम्बेडकर के बाल काटने से धर्म डूबने की बात करता था। स्कूल के सहपाठी भी उन्हें नही छूते थे, इतना ही नही विदेशी उच्चविद्या से विभूषित होकर वे जब दफ्तर में अफसर बने तो वहाँ का चपरासी भी अस्पृश्यता के भय से उनकी ओर दूर से ही फाइलें फेंका करता था। खुद अम्बेडकर पर इतने जुल्म ढाये गये तो अन्य अस्पृश्य समाज की हालत क्या होगी, इसकी हम कल्पना भी नही कर सकते हैं।

डॉ0 अम्बेडकर ने अपने अस्पृश्य भाई-बहनों के मन में अस्मिता जागृत की और उनको स्वअस्तित्व की याद दिलाकर अपने अधिकार के लिये आवाज उठाने की प्रेरणा दी। इस सन्दर्भ में मराठी के महान चरित्र लेखक धनंजय कीर लिखते हैं- विश्वभूषण डॉ0 अम्बेडकर ने युगों-युगों से अस्पृश्य, अंतयज, अतिशूद्र कहलाने वाले

समाज में आत्म प्रत्यय और आत्मतेज, आत्म विश्वास और स्वाभिमान एवं इंसानियत की नयी चेतना निर्माण की। डॉ० अम्बेडकर जी का उदय आधुनिक भारत के इतिहास में एक तेजस्वी और शाश्वत मूल्यों का दर्शन कराने वाली महान घटना है।[25]

अस्पृश्यों का नेताः–

धर्म, ज्ञान विज्ञान के अध्ययन के बाद अम्बेडकर इस निष्कर्ष तक पहुंचे कि अस्पृश्यों का उद्धार अस्पृश्य ही कर सकते हैं। फलस्वरूप अम्बेडकर ने माणगाँव (जिला कोल्हापुर) तथा नागपुर में अस्पृश्य समाज की परिषदों का आयोजन किया। महान समाज सुध ारक–राजर्षि छत्रपति शाहू जी महराज इन परिषदों में उपस्थित थे। उसी समय राजर्षि छत्रपति शाहू जी महाराज ने भविष्य वाणी की थी कि 'मेरे दलित भाइयो डॉ० अम्बेडकर के रूप में तुम्हें अपना परमेश्वर मिला है। तुम्हारी गुलामी की जंजीरे वही तोड़ेगा। मेरा दिल कहता है कि भविष्य में दलितो का उद्धारकर्ता एवं भारत के एक महान नेता होने के नाते यह युवक कार्यकर्ता विश्व के इतिहास में बडी क्रान्ति सफल कर देगा।[26]

डॉ० अम्बेडकर के पीछे भारत के सभी दलितों अस्पृश्यों की शक्ति थी। उनपर यह भी आरोप लगाया जाता था कि "अम्बेडकर केवल महार जाति का ही नेता है" । आरोप लगाने वाले इस बात को भूल ही गये कि अम्बेडकर यदि केवल महार जाति के ही नेता होते तो बंगाल के अस्पृश्य नाश शूद्र उनको ही वोट देकर क्यों

चुनते ? वास्तव में डॉ0 अम्बेडकर तो भारतीय अस्पृश्यों एवं दलितो के नेता थे।

शुरू में डॉ0 अम्बेडकर जी ने ब्रिटिशों के नये विचारों का स्वागत किया किन्तु गोलमेज परिषद के समय 'अस्पृश्यों का नेता' की हैसियत से आपने वहाँ पर जो विचार प्रकट किये उससे आपके नेतृत्व का पता चलता है। 'ब्रिटिशों के आगमन के पूर्व हम गांवो के कुंओ से पानी नहीं खींच सकते थे, "ब्रिटिश सरकार ने हमें यह अधिकार दिया है ? क्या ब्रिटिश आने के पूर्व हम मन्दिरों में जा नहीं सकते थे, क्या अब हम मन्दिर में प्रवेश कर सकते हैं ? ब्रिटिश आने के पूर्व हमें पुलिस में प्रवेश निषिद्ध था, क्या ब्रिटिश सरकार हमे पुलिस में प्रवेश देती थी ? इनमें से किसी भी प्रश्न का उत्तर हम हाँ में नहीं दे सकते । .... हमारी परिस्थिति में कोई ठोस परिवर्तन नही हुआ है।"[27] इससे तो साबित होता है कि ब्रिटिशों के खिलाफ आवाज उठाने वाला अस्पृश्यों का नेता केवल 'महर' जाति का नहीं वास्तव में भारतीय अस्पृश्यों एवं दलितो का नेता है।

अम्बेडकर और स्वराज्यः-

शुद्ध लोकतंत्र वादी बौद्ध धर्म को अपनाकर उसी को अपना जीवन दर्शन मानने वाले अम्बेडकर जी को स्वराज्य प्राप्ति के लिये स्वदेशियों एवं विदेशियों के खिलाफ एक साथ लडना पड़ा। उन्हे किसी भी स्वकीय या परकीय की गुलामी मंजूर नहीं थी। राजकीय सत्ता सर्वसाधारण जनता किसानों मजदूरों के हाँथ आये, यही उनकी

धारण थी। अस्पृश्यों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में परिवर्तन की कोशिश करने पर सनातनियों के प्रतिकार के डर से ग्रस्त ब्रिटिश सरकार की अम्बेडकर जी ने प्रताड़ना की और 6 कोटि अस्पृश्यों को अपने साथ लेकर उनकी आवाज में आवाज मिलाकर स्वराज्य प्राप्ति की माँग की। वे स्वराज्य के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक उन्नति वाले लोकतन्त्र को महत्व देते थे। 'सामाजिक और आर्थिक न्याय मानवता और मानव की प्रतिष्ठा लोकतंत्र का आधारभूत तत्व होना चाहिए तथा उसके लिये नैतिक अधिष्ठान भी होना चाहिए यही है डॉ0 अम्बेडकर प्रणीत लोकतंत्र।[28]

डॉ0 अम्बेडकर ने अस्पृश्यों, दलितों के लिये जीवन भर जो कार्य किया, उसी के गौरव के रूप में ही राष्ट्र ने उनकी संविधान गठन समिति के अध्यक्ष पद पर नियुक्ति की थी। 'अत्यन्त निम्न जाति में जन्म पाने वाले महान पंडित को संविधान गठन मंडल का अध्यक्ष नियुक्त करके राष्ट्र ने उनके निष्कलुष चरित्र, कर्तव्य एवं कुशाग्र बुद्धि का गौरव किया हैं[29]।

डा0 अम्बेडकर द्वारा रचित भारतीय संविधान का तीसरा हिस्सा बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की चर्चा करते हुए अस्पृश्यता के बारे में एक धारा का प्रावधान किया है। उसमें स्पष्ट उल्लेख है कि अस्पृश्यता पूरी तरह नष्ट की गयी है और किसी भी प्रकार से अस्पृश्यता का पालन करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। तथा अस्पृश्यता के रूप में जबरन थोपी गयी अपात्रता को दण्डनीय अपराध माना गया है। अम्बेडकर जी ने अपना पूरा जीवन

दलितोद्धार एवं अस्पृश्यों की सेवा के लिये अर्पित किया था, उन्हें भारतीय संविधान में इस धारा का समावेश करते समय जो खुःशी अथवा आनन्द हुआ होगा वह अमूल्य एंव अवर्णनीय है।

अम्बेडकर द्वारा जाति-प्रथा का उन्मूलनः-

जीवन के कुट अनुभवों से अम्बेडकर ने सीखा था कि दलितों की स्थिति में सुधार समता मूलक समाज की स्थापना के व्यापक आन्दोलन का एक हिस्सा है। स्वतन्त्र स्त्री पुरुषों के समाज की स्थापना जाति संस्था से जूझे बिना नहीं होगी। जाति संस्था न केवल समता पर आधारित समाज के विरुद्ध है अपितु सब मनुष्यों को सम्मान देने की कल्पना के भी विरुद्ध है। यद्यपि अम्बेडकर को अर्थशास्त्र और वित्तीय प्रश्नों का अध्ययन करने के लिए विदेश भेजा गया था किन्तु उनकी अधिक रुचि जाति समस्या में थी।

अमरीका में रहते हुए उन्होंने एक बार डॉ0 ए0ए0गोल्डन विजर द्वारा आयोजित नृतत्व विज्ञान विषयक गोष्ठी में एक निबन्ध पढ़ा, यह 9 मई 1916 की बात है। निबन्ध का विषय था 'भारत में जाति उद्‌गम विकास और स्वरूप' क्या था इस तरुण विद्यार्थी का सिद्धान्त? प्रथम उन्होंने जाति की परिभाषा की समस्या की ओर ध्यान दिया। वे ऐसी परिभाषा चाहते थे जिसमें न अति व्याप्ति का दोष होता, न अव्याप्ति का। उन्होंने कहा, मानव समाज मानव सम्बन्धों का जाल है और उन्होंने समाज के अत्यंतिक व्यक्तिवाद को बहुत बढ़ा ढोंग कहा-

"यह कहना कि व्यक्ति ही समाज को बनाते हैं बहुत सतही कथन है। वर्गों के मिलने से समाज बनता है। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त में कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है लेकिन यह सच हे कि समाज के भीतर वर्ग होते हैं। उन वर्गों के आधार अलग-अलग हो सकते हैं। आधार आर्थिक, बौद्धिक और समाजिक हो सकते है। किन्तु व्यक्ति हमेशा समाज, वर्ग, जाति का सदस्य होता है। यह सर्वकालिक सत्य है और प्राचीन हिन्दू समाज इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता और हम जानते हैं कि वह अपवाद नही था। अगर हम इस बात को ध्यान में रखेंगें तो जाति के उद्गम के विषय में हमारे अध्ययन में काफी मदद मिलेगी। तब इमें इतना ही निश्चित करना होगा कि किस वर्ग ने सबसे पहले अपने को जाति के रूप में स्थापित किया क्योंकि वर्ग और जाति निकटवर्ती संकल्पनाएं हैं और कालांतर में ही दोनो अलग-अलग होती हैं। बन्द या जमा हुआ वर्ग ही जाति है।"[30]

अम्बेडकर का कहना था कि जब समूह के बाहर विवाहों के स्थान पर समूह के अन्दर असगोत्र विवाह की प्रणाली चलने लगती है तो वर्ग जाति में परिणत होता है।[31]

अम्बेडकर का कहना था कि भारतीय समाज अन्य समाजों की तरह वर्गों में विभाजित था। अम्बेडकर लिखते हैं कि जब तक समाज का मूल घटक वर्ग था तब तक एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आवागमन का मार्ग खुला था। कालांतर में यह व्यवस्था नष्ट हुयी और इन उपविभागों में से बन्द इकाइयाँ बनीं जिन्हें जाति का नाम

दे दिया गया। अम्बेडकर का मानना है कि पुरोहित वर्गों ने सबसे पहले अपने को बन्द सामाजिक ईकाई बनाया और अपने वर्ग में शादियां करने लगे। उन्होंने यह प्रक्रिया शुरू की।[32]

अम्बेडकर ने कहा कि जाति प्रणाली में ऐसी कड़ी व्यवस्था की गयी कि जाति के भीतर जाने की बन्दिश के साथ जाति से बाहर जाने की भी बन्दिश थी। एक व्यक्ति की जाति का कुछ मतलब नही होता था। जाति शब्द हमेशा बहुवचन वाची होता था। जाति नियमों को तोडने का साहस करने वाले गुनाहगार के लिए कोई दया जाति व्यस्था में नहीं है। जिन्हें जाति से बाहर फेंक दिया जाता था, उनके लिए अपनी अलग जाति बनाने के अलावा कोई चारा नही था। जाति का तर्कशास्त्र इतना कठोर था कि बहिष्कृत होने पर नये–नये समूह लगातार बनते गये। इस क्रूर नियम ने सामाजिक समूहों को असंख्य जातियों में बदल दिया।[33]

जाति के सिद्धान्त और इसके उन्मूलन के लिए अम्बेडकर ने संघर्ष किया। बडौदा रियासत की नौकरी छोडने के बाद डॉ0 अम्बेडकर ने दलितों के उत्थान के लिये 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' का गठन किया और उसकी विभिन्न गतिविधियाँ चलाई। डा0 अम्बेडकर मात्र सिद्धान्त वादी नही थे बल्कि एक कर्म निष्ठ और जुझारू व्यक्ति भी थे। जब उन्होंने पालिका के तालाब से पानी लेने के सवाल पर महाड़ (कोलाबा) में सत्याग्रह करने का फैसला किया तो उन्होंने एक विद्रोही सैद्धांतिक घोषणा पत्र जारी किया। उन्होंने कहा कि उनका लक्ष्य न केवल अस्पृश्यता को हटाना है बल्कि जाति

व्यवस्था के खिलाफ युद्ध छेड़ना भी है।[34]

डॉ0 अम्बेडकर का विचार था कि जाति प्रथा से लड़ने के लिए चारों तरफ से प्रहार करना होगा। जाति ईंट की दीवार जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं है। यह एक विचार है, एक मनः स्थिति है। इस मनः स्थिति की नींव शास्त्रों की पवित्रता में है। वास्तविक उपाय यह है कि प्रत्येक स्त्री पुरुष को शास्त्रों के बन्धन से मुक्त किया जाए, उनकी पवित्रता को नष्ट किया जाए, लोंगो के दिमाग को साफ किया जाए तभी वे जाति पाति का भेदभाव बन्द करेंगे। अम्बेडकर को विश्वास था इसका सही उपाय है अंतर्जातीय विवाह। जब जाति का धार्मिक आध ार समाप्त हो जायेगा तो इसके लिए रास्ता खुल जायेगा। रक्त के मिश्रण से ही अपनेपन की भावना पैदा होगी और जब तक यह अपनत्व की, बंधुत्व की भावना पैदा नही होगी तब तक जाति प्रथा द्वारा पैदा की गयी अलगाव की भावना समाप्त नही होगी।[35]

स्वतन्त्रता प्राप्ति का लक्ष्यः-

भारत में ब्रिटिश शासन के आगमन के बाद एक नया समाज विकसित होता जा रहा था। इस नये समाज की नवीनतम जरूरतों को पूरा करने के लिये उदारवादी पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति में दीक्षित भारत के अनेकों समाज सुधारक कार्यरत हो गये। समाज सुधार का यह आन्दोलन देश व्यापी रूप ग्रहण करके राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया। एक ओर से राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता बडी तेजी से समाज परिवर्तन एवं समाज जागृति का कार्य कर रहे थे, तो दूसरी

ओर से ब्रिटिश शासक उनके इस कार्य में बाधा डाल रहे थे। समाज सुधार सम्बन्धी विधेयक उतनी गति से पारित नही होते थे, जितना कि यहाँ के राष्ट्र नेता चाहते थे। इन सभी कारणों से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं के इस विचार को बल मिला कि राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना आवश्यक है, जिससे कि लोग सामाजिक और धार्मिक सुधार की गति को तीव्र कर सकें।[36]

इन विचारों से प्रेरित होकर स्वतन्त्रता के आन्दोलन की चिनगारी सुलग गयी। सन् 1857 से लेकर 1947 तक के स्वतन्त्रता प्राप्ति के लम्बें संघर्ष के दौरान विभिन्न महापुरूष, क्रान्तिकारी एवं विचारक उदित हुये और अपने-अपने ढंग से अनवरत जारी इस युद्ध को प्रभावित करते ही रहे।

इन सभी महापुरूषों एवं क्रान्तिकारी विचारकों का लक्ष्य स्वतन्त्रता प्राप्ति रहा है। लेकिन गहराई में जाने पर हमें प्रस्तुत लक्ष्य के भी विभिन्न धरातल दिखायी पडते हैं। स्वतन्त्रता की प्राप्ति और दलित, शोषित और पीडित जनता की आजादी इन दो रूपों में यह लक्ष्य विभाजित था। सन् 1931 में जब करांची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, तो उसके प्रस्ताव में स्पष्ट कहा गया- 'इस कांग्रेस की राय है कि कांग्रेस जिस प्रकार के 'स्वराज्य' की कल्पना करती है उसका जनता के लिये क्या अर्थ होगा इसे वह ठीक-ठीक जान जाय, इसलिये यह आवश्यक है कि कांग्रेस अपनी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट कर दे, जिसे वह आसानी से समझ सके। साधारण जनता की तबाही का अन्त करने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि राजनैतिक

स्वतन्त्रता में लाखों भूखे मरने वालों की वास्तविक स्वतंत्रता भी निहित हो.........................।

इसके पहले कांग्रेस पूँजीपतियों, जमीदारों एवं मजदूर किसानों के बीच किसी संघर्ष का अवसर आने पर कोई पक्ष ग्रहण करने पर कतराती थी। अब पहले कांग्रेस ने देश के शोषित मजदूर किसानों का पक्ष ग्रहण करने से भावना व्यक्त की और इस प्रकार उसकी नीति स्पष्टतया समाजवाद की ओर उन्मुख हुयी।[37] कांग्रेस के अनेकों प्रमुख कार्य कर्ताओं के सम्मुख समाजवादी समाज रचना का लक्ष्य था। पं. जवाहर लाल नेहरू इनमें से एक प्रमुख व्यक्तिव्व माने जा सकते हैं। सन् 1936 में पं. नेहरू ने लखनऊ कांग्रेस के सभापति के पद से अत्यन्त क्रान्तिकारी भाषण दिया, जिसमें साम्राज्य विरोधी ताकतों का तथा मध्यम वर्ग के लोंगों को साथ लेकर किसान मजदूरों का एक संयुक्त मोर्चा बनाने के सम्बन्ध में विशेष जोर दिया गया था। अपने इस भाषण में इन्होंने अपनी यह आन्तरिक इच्छा प्रगट की थी कि मैं तो चाहता हूँ कि कांग्रेस एक समाजवादी संगठन बन जाये और दुनिया की दूसरी शक्तियों के साथ, जो एक नयी सभ्यता को लाने के लिये प्रयत्नशील हैं, सहयोग करें। अतः स्पष्ट है कि तत्कालीन कांगेस कार्यकर्ता समाजवादी समाज रचना के माध्यम से इस देश को स्वतन्त्रता दिलाने के साथ-साथ यहाँ के दलित वर्ग को वास्तविक आजादी भी प्रदान करना चाहतें थे।

अन्ततोगत्वा स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। भारतीय संविधान तैयार किया गया। संविधान गठन समिति में सभी वर्ग के प्रतिनिधि

थे। उनके द्वारा तैयार किया गया संविधान प्रजातांत्रिक पद्धति से निम्न वर्गों के उत्थान, समानता एवं न्याय की व्यवस्था का आश्वासन देता है। लेकिन स्वतन्त्र्योत्तर काल में धीरे-धीरे संविधान को भी बदलने की कोशिश की गयी और देश की आजादी यहाँ के नेताओं की कुर्सी के इर्दगिर्द चक्कर लगाती रही।[38]

स्वतंत्र भारत की उपलब्धियाँ एवं दलितः-

अनादि काल से भारतीय समाज के दलित वर्ग पर खुलकर नाना प्रकार के अन्याय एवं अत्याचार होते रहे हैं। उनका आर्थिक और सामाजिक शोषण किया जाता रहा है। उनकी बहू-बेटियों की इज्जत से सरेआम खेला जाता रहा है। आशा तो उन्हें यह थी कि भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद वे खुली हवा मे सांस ले सकेंगें, समाज उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित नहीं रखेगा, लेकिन उनका यह स्वप्न भारत के स्वतन्त्र हो जाने के 50 वर्ष बाद भी पूरा नही हो पाया है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति एवं सरकार का गठन होने के पश्चात मनीषी विचारकों का विचार एवं सरकार की नीति इस प्रकार हो गयी कि भारत की उन्नति के लिये अभिशाप के रूप में विद्यमान जाति प्रथा को समूल नष्ट किया जाय। भारतीय संविधान के अन्दर परिगणित जातियों के लिये विशिष्ट नियमों का निर्धारण किया गया है। सन् 1955 में भारतीय लोक सभा ने 'अनटचेब्लिटी एक्ट' पास किया है, जिसके अनुसार निम्न जातियों को मन्दिरों, कुँओं, विद्यालयों,

दुकानों, जलपानगृहों एवं सिनेमा गृहों में प्रवेश निषिद्ध करना अथवा अन्य किसी प्रकार से अपने से पृथक अथवा हीन समझने वालों को कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार की नौकरियों में जाने के लिये आयोजित होने वाली प्रतियोगिता परीक्षाओं में निम्न जातियों के दलित वर्ग के विद्यार्थियों के लिये छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती हैं।

अतः स्पष्ट है कि संविधान और कानून के माध्यम से दलितों को उनके अधिकार प्रदान किये गये हैं। लेकिन अनादि काल से दलितों का शोषण करने का आदी भारतीय समाज अपना शोषण कार्य जारी रखे हुये है। स्वतन्त्रता के पश्चात भी उनकी दयनीय स्थिति बरकरार रही है।

विचारकों का मत यह है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पीडितों, अस्पृश्यों, शोषितों एवं दलितो की स्थिति में परिवर्तन आ गया है। जाति की दीवार समूल नष्ट हो चुकी है। इस सन्दर्भ में डॉ.0 विद्यालंकार निरूपण लिखते हैं कि 'वर्तमान काल में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात शूद्र और उसकी कोटि में आने वाली हीन जातियों की स्थितियों में एक दम परिवर्तन आ गया है। कानून की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान हैं। परिणामतः दलित उस जाति प्रथा पर आधारित विधान से छुटकारा पाकर द्विजातियों के सम्मुख समान धरातल पर खड़ा है। उसे राजनैतिक संरक्षण प्राप्त है। प्रजातन्त्रात्मक संविधान में उसको सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। सभी प्रकार की शिक्षा के द्वार उसके लिये खुले है। धार्मिक क्षेत्र में उसके लिये इस समय कोई

प्रतिबंध नही है। परिणामतः धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में सभी दिशाओं में वह प्रगति और उन्नति कर सकता है, इस रूप में उसका भविष्य एक दम उज्ज्वल है।'[39]

बीसवीं सदीं और हिन्दी में दलित चेतनाः-

हिन्दी के प्रख्यात कथाकार एवं विचारक डा० राजेन्द्र यादव अक्सर यह सवाल उठाते हैं कि 1850 से 1950 तक इन सौ वर्षो के हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द और महादेवी वर्मा आदि एक दो अपवादों को छोड़कर सारे लेखक एक ही जाति या वर्ण विशेष के क्यों है ? क्या कारण है कि वे सभी द्विज है और उनमें अपवाद स्वरूप भी कोई दलित लेखक नही है ? यह सवाल महत्वपूर्ण है। इसका क्या कारण हो सकता है ? यह कहना कदाचित गलत होगा कि इन सौ वर्षो में कोई भी दलित लेखक नही हुआ। जिस भाषा में कबीर जैसा समृद्ध और क्रान्तिकारी कवि हो, उस भाषा में कबीर की परम्परा ने दलित लेखक न पैदा किये हों, ऐसा हो नहीं सकता । हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालों के बारे में हम यह धारणा नही बना सकते कि उन्हें दलित लेखकों की जानकारी न हो, जबकि हीरा डोम और अछूतानन्द तो सर्वविदित थे ही, लेकिन यह धारण बनाये बिना नही रह सकते कि इतिहास लेखकों ने अपने जातीय पूर्वाग्रहों के कारण दलित लेखकों की उपेक्षा की है। हमारे पास कई ऐसे दलित लेखकों के नाम हैं जो सत्तर के दशक में उभरे दलित साहित्य से काफी पहले ही हिन्दी साहित्य में दलित चेतना की दस्तक

दे रहे थे।[40]

डा0 अम्बेडकर युग से पूर्व के दलित लेखकों में हम हीरा डोम और अछूतानन्द के साहित्य पर संक्षेप में चर्चा करेंगे। हीरा डोम की वही एक मात्र कविता हमारे विश्लेषण का आधार है जो 1914 में 'सरस्वती' में 'अछूत की शिकायत' नाम से छपी थी। इसके सिवा हीरा डोम के बारे कोई जानकारी हमारे पास नही है, न ही उनकी कविताओं के बारे में और न उनके व्यक्तित्व के बारे में। हीरा डोम की 'अछूत की शिकायत' कविता में विचारोत्तेजक दलित विमर्श है। यह विशुद्ध रूप में से दलित संवेदना की कविता है, जिसमें एक अछूत अपने कष्टों का वर्णन कर रहा है- भगवान के सामने, शायद हम सबके सामने। यह वर्णन मर्म स्पर्शी है, संवेदना को हिला देने वाला है। अछूत कहता है- हम जो रात दिन दुःख भोगते है, हम भी साहब सो मिनती सुनायेंगे। हमारे दुखो को भगवान नही देखता कि हम कैसे-कैसे कलेश उठाते है। हमारा मन कहता है कि पादरी साहब की कचहरी में जाकर हम भी अंग्रेज बन जायं, पर हमसे अपना धर्म नही छोडा जाता। खंभा फाडकर प्रहलाद को बचाने वाला, मगर के मुंह से गजराज को बचाने वाला, दुर्योधन से कपडा बढाकर द्रौपदी की रक्षा करने वाला, ऊंगली पर पहाड़ उठाने वाला, हमारे कष्ट दूर क्यों नही करता? क्या डोम जानकर वह हमें छूने से डरता है। हम कीचड़ में से पानी निकाल कर पीतें हैं। पनही से (जूते से) पीट-पीट कर हमारे हाँथ पैर तोड दिये जाते हैं। हमें इतना क्यों सताया जाता है-

हमनी के रात दिन दुखवा भोगत बानी,
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवनओं न देखता जे,
हमनी के कबले कलेसबा उठाइबि।
पदरी साहब की कचहरी में जाइविजा,
बेधरम होके रंगरेज बनि जाइबि।
हाय राम, धरम न छोडत बनत बा जे,
बेधरम होके कैसे मुंहवा देखइबि।
खंभवा के फारि प्रहलाद के बचवले जा,
ग्राह के मुंह से गजराज के बचबले।
धोती जुरजोघना के भइया छोरत रहे,
परगट होके तहाँ कपडा बढ़बले।
मरले खनवां के पतले भभिखना के,
कानी अंगुरी पै धै के पथरा उठबले।
कहवां सुतल बाटे सुनत न बाटे अब,
डोम जानि हमनी के हुए से डेरइले।।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले जा,
पांके में से भरि भरि, पियतानी पानी।
पनही से पिटि पिटि हाथ गोड तुरि दैलें,
हमनी के इतनी काही के हलकानी।।[41]
मैं समझता हूँ कि हीरा डोम ने यह फरियाद भगवान

से नहीं की थी, क्योंकि इस कविता में वह भगवान् की अलोचना करते हैं, उस पर व्यंग्य करते हैं। संभवतः यह फरियाद अंग्रेज बहादुर से की गयी थी। 'हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि' से तो यही प्रतीत होता है। यह सहेबे यानी साहब अंग्रेजी सरकार ही हो सकती थी। हीरा डोम ने धर्मान्तरण का निषेध किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उस हिन्दुत्व के पक्ष में हैं, जिसकी व्यवस्था में वह अस्पृश्यता का शिकार हैं। इस कविता में दो बातों की तरफ विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। पहली यह कि कवि भगवान को भी सवर्ण मानता है, जो अछूत के कष्ट को नहीं देखता। खंभा फाडकर प्रगट होने वाला, द्रोपदी की साडी बढाने वाला और अंगुली पर गोवर्धन पर्वत उठाने वाला भगवान इस कविता में दलितों के दुःख दूर करने में अक्षम है। यह ईश्वर का नकार भी है उसका खण्डन भी। दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि हीरा डोम ने 'बेधरम' शब्द का प्रयोग किया है। अछूत बेधरम होकर ईसाई बनना नही चाहते हैं। इसका अर्थ यह नही लेना चाहिए कि वे हिन्दू धर्म को छोडना नही चाहते हैं। दरअसल अछूत जिस धर्म संस्कृति के अनुयायी हैं, उसका हिन्दू धर्म से कुछ भी लेना देना नही है। यहाँ हीरा डोम उसी धर्म की बात कर रहे हैं, जिसे छोडकर वे 'बेधरम' होना नही चाहते ।

इसी युग के दूसरे महत्व पूर्ण लेखक स्वामी अछूतानन्द हैं, जो 'हरिहर' उपनाम से कविताएं लिखते थे। वे उत्तर भारत में 'आदि हिन्दू' आन्दोलन के प्रवर्तक थे। कहा नहीं जा सकता कि पंजाब के 'आदि धर्मी' आन्दोलन से वे कितना प्रभावित थे, पर

दोनो आन्दोलन समान विचारधारा के जरूर थे। स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' कवि होने के साथ-साथ नाटककार और पत्रकार भी थे। हिन्दी में 'आदि हिन्दू' पत्र निकालकर उन्होंने ही दलित पत्रकारिता को उत्तर भारत में जन्म दिया था। यह पत्र दलितों पर होने वाले अत्याचारों की खबरें छापता था और दलितों को उनके इतिहास से परिचित कराकर उनमें स्वाभिमान पैदा करता था। स्वामी जी की एक कविता 1912 ई0 में छपी हुयी मिलती है, जिससे पता चलता है कि वे हीरा डोम से पहले के कवि थे। उन्होंने अपने काव्य नाटक और अन्य कविताओं के माध्यम से यह स्थापित किया था कि अछूत आदि हिन्दू हैं, और शेष लोग भारत में बाहर से आयें हैं। डा0 अम्बेडकर न इस धारण को स्वीकार नही किया था, पर उनके पूर्ववर्ती दलित आन्दोलनों की धारा इसी धारणा में विश्वास करने वाली थी।

स्वामी अछूतानन्द की एक कविता 'मनुस्मृति' पर है, जिसकी भावाभिव्यक्ति हीरा डोम की कविता से अलग नही लगती है। यह कविता इस प्रकार है-

निसदिन मनुस्मृति ये हमको जला रही है
ऊपर न उठने देती नीचे गिरा रही है।
ब्राह्मण व क्षत्रियों को सबको बनाया अफसर,
हमको पुराने उतरन पहनो बता रही है।
दौलत कभी न जोड़े गर हो तो छीन ले वह,
फिर नीच कह हमारा दिल भी दुखा रही हैं
कुत्ते व बिल्ली मक्खी से भी बना के नीचा,

हा शोक, गांव बाहर हमको बसा रही हैं
हमको बिना मजूरी बैंलो के संग जोते,
गाली व मार उस पर हमको दिला रही है।
लेते बेगार, खाना तक पेट भर न देते
बच्चे तडपते भूखे, क्या जुल्म ढा रही है।
ए हिन्दू कौम सुन ले तेरा भला न होगा,
हम बेकसों को 'हरिहर' गर तू रूला रही है।[42]

हीरा डोम ने अपनी कविता में पूछा था– 'हमनी के इतनी काही के हलकानी'? अछूतानन्द की यह कविता उस सवाल का जवाब लगती है। यह मनुस्मृति ही है जिसके कानून एक आचार संहिता के रूप में हिन्दू समाज व्यवस्था के अंग बन चुके हैं।

स्वामी अछूतानन्द जी का उत्तर भारत के दलित वर्गो पर व्यापक असर पडा था। उनके 'आदि हिन्दू आन्दोलन' और साहित्य ने स्वामी शंकरानन्द, केवलानन्द और अयोध्या नाथ दण्डी जैसे समर्थ कवियों को आगे बढाया। इनमें केवलानन्द का यह गीत दलित वर्गो में आज भी प्रसिद्ध है–

मनु जी तुमने वर्ण बना दिए चार।
जा दिन तुमने वर्ण बनाये, न्यारेऊ रंग बनाये क्यों ना।
गोर ब्राह्मण, लाल क्षत्रिय, बनिया पीले बनाये क्यों ना।
शूद्र बनाते काले वर्ण के, पीछे को पैर लग वायें क्यों ना।
कैसे हो पहचान पोप जी दो अक्षर डालवाये क्यों ना।
लोहे के बर्तन पर पानी कंचन को दयौ डार।।

मनुजी तुमने वर्ण बना दिए चार।[43]

इस गीत में एक अद्‌भुत दलित विमर्श है जिसने वर्ण व्यवस्था के निर्माता को कटघरे में खड़ा कर दिया है। सवाल यह नही है कि मनु वर्ण व्यवस्था का निर्माता नही है, उसने तो उसे सिर्फ कानून का रूप दिया था। लेकिन मनु के कानूनों से दलित वर्गो के जीवन का दुखद पतन जरूर शुरू होता है। इसलिए दलितों के लिए मनु ही एक मात्र वह खलनायक है जिसने दासता की बेडियों में उन्हें जकड़ा।

विश्व और दलित मानवताः–

दलित और दलितेतर वर्गका प्रश्न केवल भारतवर्ष तक ही नहीं है। यह समस्या सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान है। समृद्ध और वैभव में आगे बढे हुए दो तीन राष्ट्रों को छोडकर शेष अधिकांश राष्ट्रों में कमोबेश यही स्थिति है। साम्राज्य वाद और पूँजीवाद के विषैले प्रभावों ने मानवता को स्पष्ट रूप से दो वर्गो में विभाजित कर दिया है। अमीर और गरीब तथा शोषक और शोषित। आज भी कुछ ऐसे राष्ट्र है जो अर्थ लोलुप पूँजीवादी और साम्राज्य वादी दैत्य के पंजे से मुक्त नहीं हो पाये हैं। सिद्धान्तों की आड़लेकर राजनीति का खेल खेलकर उनकी आजादी को रोके रखा गया है। जो आजाद हो गये हैं उन्हें पूर्णतः आत्मनिर्भर नहीं होने दिया गया है। आर्थिक और सैनिक सहायता के बहाने उनकी गुलामी को जारी रखा गया है। इसमें एक तीसरी दुनिया भी है, जो स्वयं को गुट निरपेक्ष कहती है और महाशक्तियों के षडयंत्र को विफल करने का प्रयत्न कर रही है।

विश्व में शोषितों और गुलामों का एक दूसरा वर्ग भी है, जो हब्शी या नीग्रो कहा जाता है। स्वतन्त्रता देवी की पूजा करने वाले और साम्यवादी व्यवस्था को असफल करने के लिये करोडो डालर खर्च करने वाले परम स्वतन्त्र अमेरिका ने अपने यहाँ के इन दलितो को अभी तक समानता एवं न्याय नहीं दिया है। यह रंगभेद की नीति अमेरिका का स्थायी रोग बन चुकी है। काली चमडी वालों की ओर से सदैव समानता की मांग की जाती है, और कट्टर श्वेत पंथी उस मांग को ठुकरा देते हैं। फिर यहाँ के काले निवासियों के आत्मा की घुटन संगीत और साहित्य कला में अभिव्यक्त होकर सम्पूर्ण विश्व में समर्थन प्राप्त कर रही है। उनका अपना अलग साहित्य है, जिसे 'ब्लैक लिटरेचर' कहा जाता है, ठीक उसी तरह जैसे मराठी में 'दलित साहित्य' जो दलितों के द्वारा ही लिखा हुआ माना जाता है। लेकिन यहाँ एक बात महत्वपूर्ण है कि कुछ विचारक 'नीग्रो साहित्य' तथा 'काला साहित्य' से मराठी के दलित साहित्य की तुलना करते हुये नीग्रो समस्या और दलित समस्या को सामाजिक दृष्टि से एक सा मानते हैं, जो पूर्णतः गलत है। दलितों की सामाजिक समस्या नीग्रो समाज की अपेक्षा भिन्न और व्यापक है। सवर्णो की सांस्कृतिक छाया में यह समाज सदियों से जी रहा है। निग्रो समाज की मुक्ति की मांग मुख्यतः आर्थिक, सामाजिक, एवं राजनैतिक दिशा में है, लेकिन दलित समाज का भ्रम भंग बुनियादी 'मानवता' कहा है।[44]

अपने साम्राज्य को खो देने वाले इंग्लैण्ड में भी रंगभेद

की नीति वर्तमान है। भारतीयों को निम्न एवं काला मानने की पुरातन अंग्रेजी धारण में भी अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ हैं। इस सम्बन्ध में निर्मल वर्मा की कहानी 'लंदन की एक रात' तथा महेन्द्र भल्ला का उपन्यास 'दूसरी तरफ' प्रस्तुत तथ्य के जीवन्त प्रमाण हैं। इससे यही निष्कर्ष निकल सकता है कि तथाकथित सभ्य, सुसंस्कृत समृद्धशील एवं न्याय राष्ट्रों के सिद्धान्तों एवं आचरण में गहरी असंगति है। जिस लक्ष्य की घोषणा करें उसे ईमानदारी से प्राप्त करने के लिये कभी प्रयत्न भी न करें यही उनका जीवन दर्शन है। विश्व शान्ति, निःशस्त्रीकरण यू0एन0ओ0 इत्यादि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। आज कोई भी यह दावे के साथ नही कह सकता है कि मानवता पूर्णतः स्वतन्त्र एवं मुक्त है समानता एवं न्याय का आदर्श पूरी तरह से हर जगह और हर सन्दर्भ में प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है। अतः मानवीय नियती का संकट अभी भी खत्म नही हुआ है और 'वसुधैव' कुटुम्बकम्' का स्वप्न साकार करने के लिये वर्षो इन्तजार करना पड़ेगा। लेकिन इसके साथ-साथ शोषित, दलित मानव का असंतोष बढ़ता ही जायेगा। अधिकार एवं मानवता के लिये वह संघर्ष करता रहेगा, उसे दबाने के लिये प्रयास अन्ततः असफल ही सिद्ध होंगे। ब्लैक पैंथर, दलित पैंथर, दलित साहित्य आदि संज्ञायें इसी अनवरत संघर्ष की क्रमागत सीढ़ियाँ हैं।

हिन्दी में दलित साहित्यकार आंदोलनः-

प्रसंग वश उल्लेख आवश्यक है कि हिन्दी में दलित

आन्दोलन की जड़े मराठी के दलित आन्दोलन से जुडती हैं। मराठी का दलित आन्दोलन हिन्दी के दलित आन्दोलन का पूर्वज है हिन्दी में दलित आन्दोलन की आहट राजनैतिक धरातल पर 'बहुजन समाज पार्टी' के अभ्युदय के साथ सुनाई देती है। हिन्दी में मराठी दलित रचनाओं विशेषकर आत्मकथाओं का अनुवाद इन आन्दोलनों की शुरुआत करता है। मराठी साहित्य जगत में दलित साहित्य को अत्यधिक महत्व प्राप्त हो चुका है। वहाँ दलित साहित्य ने अपना एक अलग मंच एवं अस्तित्व प्रस्थापित किया है। मराठी के कुछ आलोचकों की दलित साहित्य कार के बारे में धारणा है कि अस्पृश्य हरिजन एवं भिन्न जाति के लेखक को ही दलित साहित्यकार कहा जाय। इस आधार पर जायें तो हिन्दी में दलित लेखकों की संख्या न के बराबर ही है इसका कारण यह भी हो सकता है कि महाराष्ट्र की तुलना में उत्तर भारत तथा हिन्दी भाषा प्रान्त के अस्पृश्यों, हरिजनों, में शिक्षा के प्रसार का अभाव या उनकी आर्थिक समस्यायें। लेकिन दलित लेखक की उपर्युक्त धारणा के बारे में सभी विचारक सहमत नही है। इसके पहले ही दलित साहित्य के अध्ययन में हमने इस पर विस्तृत चर्चा की है वहाँ तो साधार चर्चा की है कि शूद्र, अस्पृश्यों, हरिजनों के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से पिछडा हुआ तथा शोषण का शिकार एवं पीड़ित चाहे वह किसी भी जाति का हो प्रस्तुत दलित वर्ग का संवेदना का पूर्ण चित्रण अपने साहित्य में करता है, उसे दलित साहित्यकार ही कहा जाय।

धर्मवीर का मानना है कि हिन्दी में सबसे पहले संत

और लोकनायक कबीर ने दलित वर्ग की करूणा एवं वेदना को साहित्यक रूप दिया। कबीरदास तो खुद ही निम्न जाति के थे। उन्होंने जाति के महल को ही हिला दिया। आधुनिक काल में हिन्दी गद्य साहित्य मेंदलित वर्ग का ह्रदय द्रावक वर्णन करने वाले लेखकों में मूर्धन्य साहित्यकार हैं मुंशी प्रेमचन्द उन्होंने अपनी कहानियों एवं उपन्यासों के माध्यम से दलितों का जीता जागता चित्र अंकित किया है। काव्य के क्षेत्र में भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों ने इस कार्य को बढावा दिया। छायावादी कवियों ने भी प्रस्तुत वर्ग पर दृष्टिपात डाला है। आगे चलकर प्रगतिवादी कवियों ने मार्क्सवाद से प्रेरित होकर दलित वर्ग की पीड़ा को काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया। दलितों के प्रति प्रगतिवादी काव्य में जो सहानुभूति व्यक्त की गयी, उसने सहृदयों के मन को प्रभावित किया।[45]इसके आगे प्रयोगवाद और नयी कविता में भी तत्कालीन कवियों की दलित वर्ग के प्रति व्यक्त सहानुभूति दृष्टिगोचर होती है।

दलित साहित्य की अवधारणाः-

दलित साहित्य पर चर्चा चलती है, तो सबसे पहले स्वाभाविक रूप से जो प्रश्न उठता है, वह यह है कि क्या साहित्य का विभाजन जाति के आधार पर भी सम्भव है? चूँकि साहित्य का भाषाई आधार जनमानस में स्थापित है, जैसे हिन्दी, उर्दू, बंगला, कन्नड, तमिल, मराठी और अंग्रेजी आदि भाषाओं का साहित्य। इसी लिये, साहित्य का कोई जाति मूलक आधार भी हो सकता है, यह

आसानी से लोंगो के गले नहीं उतर रहा हैं।

लेकिन वास्तविकता यह है कि साहित्य सिर्फ भाषा के आधार पर ही विभाजित नही है। बल्कि यह अनेकानेक वादों और विचार धाराओं में भी विभाजित है। वह हिन्दुत्व वादी भी है, इस्लामी और ईसाई भी है, जैन एवं बौद्ध भी है, वामपंथी एवं दक्षिण पंथी भी है वह गाँधी वादी और लोहियावादी भी है। वह राष्ट्रवादी भी है एवं भूमण्डलवादी भी है। फिर वह दलित वादी क्यों नही हो सकता ?[46]

जो लोग जाति के आधार पर विभाजन के पक्ष में नहीं है वे जाति आधारित सामाजिक विभाजन को मूल जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जीवन व्यापार में जाति कितनी अहम भूमिका निभाती है। अन्तर जातीय प्रेम-सम्बन्धों में पंचायतों की क्रूर सजाए जाति के हस्तक्षेप को ही प्रभावित करती हैं। जाति का समाज शास्त्र इतना कटु है तो वह साहित्य का सत्य क्यों नहीं बन सकता ?

जाति की भूमिका के सम्बन्ध में डा0 अम्बेडकर ने लिखा है- "जातियाँ एक संघ भी नही बनाती कोई जाति दूसरी जाति से जुडने की भावना भी नहीं रखती । सिर्फ हिन्दु मुस्लिम दंगे के समय में आसपास में जुडती हैं। अन्य अवसरों पर हर जाति अपने को अलग रखने का प्रयत्न करती है। प्रत्येक जाति केवल आपस में भोजन व विवाह करती है। यहाँ तक कि प्रत्येक जाति की अपनी विशेष पोशाक होती है, वरन् भारत के नर नारियों द्वारा पहनी जाने वाली असंख्य प्रकार की पोशाकों का क्या अर्थ हो सकता है, जिनसे पर्यटकों का खासा मनोरंजन होता है। वास्तव में आदर्श हिन्दू बिल में

रहने वाले उस चूहे की तरह हैं, जो अन्य लोगों के सम्पर्क में नही आना चाहतें। हिन्दुओं में सामूहिक चेतना की भारी कमी पायी जाती है। यही कारण है कि यह नही कहा जा सकता है कि वे एक समाज या एक राष्ट्र बनाते है।"

यह जाति की वह व्यवस्था है, जिसमें डॉ० अम्बेडकर के शब्दों में-

" एक सवर्ण हमेश सवर्ण रहता है।
एक अछूत हमेशा अछूत रहता है।
एक ब्राह्मण हमेशा ब्राह्मण रहता है।
एक भंगी हमेशा भंगी रहता है।
वे ऊंचे रहते हैं, जो ऊंचे पैदा होते है।
वे नीचे रहते हैं, जो नीचे पैदा होते हैं।
भाग्य के कठोर नियम पर खडी है,
यह व्यवस्था अपरिवर्तनीय।
इसीलिए व्यक्ति की योग्यता निरर्थक है।
नीतिवान अछूत भी नीचा है, हीन सवर्ण से
धनवान अछूत भी नीचा है, धनहीन सवर्ण से।"[47]

अब प्रश्न यह उठता है कि दलित साहित्य किसे कहेंगे? इस पर दलित लेखक और गैर दलित लेखकों में मतभेद हैं।

अतः दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीडा को रूपायित किया है। अपने

जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिये कला का नही, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। इसीलिये कहना होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है। इस अवधारणा को लेकर गैर दलित लेखकों की आपत्ति यह है कि दलित साहित्य पर गैर दलितों का लेखन दलित साहित्य क्यों नहीं है? या यह कि दलित समस्या पर सिर्फ दलित ही लिख सकता है गैर दलित नहीं? आपत्ति निराध ार नही है ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि दलित समस्या पर गैर दलित नही लिख सकते । जरूय लिख सकते हैं, उन्होंने लिखा भी है और लिख भी रहे हैं। पर सवाल अनुभूतियों और चिन्तन का है। दलित जीवन की पीड़ा की जैसी अनुभूतियाँ एक दलित को होती हैं, वैसी अनुभूतियाँ एक सवर्ण को नहीं हो सकती हैं। मार्क्स, गाँधी या उदारवादी हिन्दू विचारधारा से प्रभावित सवर्ण लेखक की दलित पीड़ा या सवालों के साथ सह अनुभूति हो सकती है और उसी आधार पर वह अपना समाधान भी प्रस्तुत कर सकता है, जैसा कि प्रेमचन्द्र, निराला, गिरिराज किशोर, नागार्जुन, अमृत लाल नागर और जगदीश गुप्त आदि ने प्रस्तुत किये हैं। किन्तु वह दलित साहित्य का अंग इसलिए नहीं बन सकते क्यों कि दलित चेतना इन विचारधाराओं को पूरी तरह नकारती हैं।

दलित साहित्य के पक्षकारों के ठोस तर्क को अभिव्यक्ति देते हुए राजकीय महाविद्यालय लैंसडाउन के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ0

एन. सिंह लिखते है कि "प्रत्येक युग का साहित्यकार अपने युग के लिए साहित्य का पाठ स्वयं तय करता रहा है। यह युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप भी होता है। उदाहरणार्थ राम तो वही है लेकिन बाल्मीकि, तुलसी, मैथिली शरणगुप्त, नरेश मेहता तथा भगवान सिंह के राम नितान्त अलग-अलग हैं क्योंकि इन पाँचों रचनाकारों के समय और दृष्टि में भेद है। बाल्मीकि का राम ब्राह्मणों के कहने पर शूद्र ऋषि शंबूक की हत्या कर देता है। तुलसी ने ब्राह्मणवाद को जीवित रखने के लिए राम का सहारा लिया, जो 'रामचरितमानस' में ब्राह्मण को 'इस धरती का देव' तथा शूद्र तथा स्त्री को पशु की श्रेणी में रखते हैं। गुप्त का राम गांधीवादी एवं जननायक है जबकि नरेश मेहता का राम मानता है कि 'स्वजनों के खून पर पांव रखकर आती हुई सीता' भी स्वीकार नहीं। भगवान सिंह राम कथा को एकदम आधुनिक धरातल पर ला खडा कर देते हैं।"[48]

दलित साहित्य पर कुछ विद्वानों के मत इस प्रकार है- भारतीय दलित साहित्य के अध्यक्ष श्री सोमपाल सुमनाक्षर का मत है कि "सहित्य का सीधा अर्थ किसी के हित में लिखी गयी रचना से होता है। इसलिए जो साहित्य दलितोत्थान के लिए लिखा जा रहा है वह दलित साहित्य है।"

सुप्रसिद्ध रचनाकार जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं "साहित्य की सबसे बडी कसौटी यह है कि उसे सम्पूर्ण समाज के उत्थान और कल्याण में सहायक होना चाहिए।" नन्दूराम का मत है- "दलित रचनाकार स्थापित समाज एवं साहित्य दोनों को नकारता है तथा

बराबरी की भावना पर आधारित एक नई व्यवस्था की स्थापना की जोरदार आवाज में माँग करता है"।

वास्तव में दलित साहित्य को दो खण्डों में समझा जाना चाहिए। प्रथम खण्ड में दलित अभिव्यक्ति का प्रश्न है और निर्विवाद रूप से इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं है। दूसरे खण्ड में दलित साहित्य के मानदण्ड के निर्धारण की बात उठती है। अब कोई व्यक्ति चाहे कितना ही सताया पीडित क्यों न हो, वह यह नही कह सकता कि पीड़ित करना उसका मानदण्ड है। मानदण्ड के रूप में फिर पुराने आदर्श ही आते है। हाँ हिस्सेदारी बदल जाती है। इस बात पर दलित साहित्यकारों को विचार करना होगा।

दलित रचनाकार डा0 धर्मवीर ने बड़ा स्पष्ट लिखा है कि दलित साहित्य में सौंदर्य बोध की माँग क्यों? भूखी नटनी को बांस पर नचाना क्या उचित है? बडे-बडे लोग यह कहते हैं कि "भूखे भजन न होई गोपाला, यह ले अपनी कंठी माला"। इसी प्रकार दलित साहित्य की भाषा को लेकर सवाल उठते रहते हैं। डा0 धर्मवीर ने बड़ा ही स्पष्ट कहा है "दलित सदैव से मातृभाषा में साहित्यिक रचना कर रहा है जबकि सवर्ण हमेशा द्विभाषी रहे हैं।"

निश्चित रूप से भाषा ऐसी होनी चाहिए जो साहित्य का संप्रेषण आम जनता तक कर सके इसमें दलित साहित्यकार सफल हैं। जो अब तक है वह सब गलत है, इस पर काम करते समय हमें बहुत ध्यान देना होगा। वैसे भी व्यवहारिक दृष्टि से यह देखा गया है कि वर्तमान अतीत को ताकत देता है लेकिन यदि अतीत पर ज्यादा

बल दिया जाता है तो अतीत अपनी सारी समस्यायें भी वर्तमान पर थोप देता है। दलित रचनाकारों को इस पर भी विचार करना होगा।

वैसे दलित साहित्य का भविष्य उज्जवल है चाहे उसका कारण आक्रोश की विरासत (मोहन नैमिशराय) हो नया वर्तमान अन्यायपूर्ण साामाजिक व्यवस्था का जारी रहना (डा0 तुलसी राम) हों, लोकतांत्रिक व्यवस्था की सफलता (विपिनचन्द्र) हो या दलित राजनीति की सफलता । सभी के लिए दलित संस्कृति के विकास की आवश्यकता है।

ध्यान देना होगा कि पहाडी नदियां स्वच्छ होती हैं किन्तु पतली होती हैं, मैदानी नदियों के पाट चौड़े होते हैं किन्तु उनमें गन्दगी एवं जल प्रदूषण होता है। व्यापकता समाज हित में होती हैं और अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होती हैं। वैसे भी दलित साहित्य की चेतना इतनी प्रखर व विकसित हो चुकी है कि व्यापकत में उसको समाहित होने का खतरा नहीं है उल्टे वह व्यापकता में समाज को प्रभावित ही करेगी।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि दलित साहित्य के दुःख दर्द, आत्मगत, पीडा, अपमान, क्षोभ, आक्रोश व राग-विराग को हिन्दी साहित्य में व्यापक प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए व दलित साहित्य व लेखन को थोड़ा वस्तुनिष्ट व उदार होना चाहिए जिससे दलित संवेदना, साहित्य और हिन्दी साहित्य दोनो का सहअस्तित्व पूर्ण विकास संभव हो सके।

निष्कर्षः—

दलित और दलितेतर के बीच सदियों से कशमकश होती रही है, यह समस्या केवल भारत में ही मर्यादित नहीं है पूरे विश्व में यही स्थिति वर्तमान है। अमेरिका में निग्रो, रोडेशिया में अफ्रीकी समाज तथा भारत में अस्पृश्य हरिजन एवं शोषित पीडित समाज सदियों से सवर्ण समाज के दरवाजे के पास बैठकर आंसू बहाते हुये मानवता के अधिकारों की याचना कर रहा है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत का इतिहास देखा जाये तो पता चलता है कि दलित की स्वतन्त्रा पूर्व स्थिति में कोई खास परिवर्तन नही हुआ है। दीन दलितों एवं शोषितों पीडितों की तबाही का अन्त करने के उद्देश्य से समाजवादी विचारधारा के पथ पर अग्रसर होने के हेतु स्वतन्त्रता आन्दोलन उग्र रूप प्राप्त कर सका। न जाने कितने अरमानों को हृदय से लगाकर और मंगल भविष्य के सपनो को सजाकर दीन दलितो, एवं शोषितों, पीड़ितों ने स्वतन्त्रता संग्राम में सक्रिय योगदान दिया था। लेकिन स्वातन्त्रयोत्तर काल में उनके यह अरमान और सपने मिट्टी में मिल गये। आज भी अस्पृश्यों हरिजनों पर सरेआम अत्याचार हो रहे हैं, शोषक वर्ग शोषण कार्य में बराबर लगा हुआ है और शोषित की स्थिति दिन प्रतिदिन दयनीय होती जा रही है। इसका महत्वपूर्ण कारण यह है कि अस्पृश्यों, हरिजनों मजदूरों एवं किसानों का शोषण करने की पूंजीपति शोषक वर्ग की शोषण

प्रवृत्ति अपने समाज का अविभाज्य अंग बन चुकी है। आज भी अस्पृश्यों, हरिजनों, नारियों एवं मजदूरों को अपनी मांग की पूर्ति के लिये कई आन्दोलनों का सहारा लेना पड़ता है। इसके लिये आवश्यकत है कि समाज में आर्थिक समता की स्थापना हो और कमजोर वर्ग की आर्थिक दशा सुधर जायें। इसके साथ ही सवर्णों की दृढ़मूल पारम्परिक मानसिक स्थिति तथा शोषकों की शोषण नीति में भी परिवर्तन हो जाना आवश्यक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. पाइअसद्द महण्णवो (प्राकृत शब्द कोश) स0- न्यायव्याकरण तीर्थ, से0टी0- हरगोविन्ददास
2 The Student's Sanskrıt- Englısh Dıctıonary/ सं0 - एस0 व्ही0 आप्टे
3 सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर/ स0 रामचन्द्र वर्मा एव कोश सस्थान/ सप्तम संस्करण।
4 श्री मा माटे
5 महात्मा गाँधी
6 बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर
7 P T Borale/ Segregrtıon & Desegaegatıon ın Indıa/Bombay 1968/P -7
8 रामशरण शर्मा/ प्राचीन भारत में शूद्रों की स्थिति/राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-1992/पृ0- 29
9 भारतीय धर्म शास्त्र में शूद्रों की स्थिति/डॉ0 विद्यालकार निरूपण/पृ0- 438-433
10. भारतीय धर्म शास्त्र में शूद्रों की स्थिति/डॉ0 विद्यालंकार निरूपण/पृ0- 426
11. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि/ ए0 आर0 देसाई/ पृ0- 203
12. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि/ ए0 आर0 देसाई/ पृ0- 205
13 राजा ढ़ाले/ नाकेबन्दी आणि नकार, शीर्षक लेख/ अस्मितादर्श/ सं0 गंगाधर पानता वणे औरगावाद जन फरवरी-1977/ पृ0-19
14. गाँधी विचार का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव/मथुरा, 1973/ पृ0-75
15 हरिजन सेवक 23-2-1934
16. हरिजन सेवक 23-2-1934
17 हरिजन सेवक 10-2-1946
18 गाँधी विचार दोहन/कि0 ला0 मशरूवाला/ पृ0-41
19 हिन्दी नवजीवन/ 3-11-1927/पृ0-85
20 हिन्दी नवजीवन/26-12-1924/पृ0-157
21 हरिजन (साप्ताहिक) / 23-9-1929/ पृ0-113
22. केसरी-पूना-नवम्बर 1923
23. "And Gandhıjı was lıttle averse to ınvokıng concepts lıke sın, repentance and penence ın support of hıs idıas-most of hıs pronouncements were alonge the thınkıng not only of orthodox Hındus but of all orthodoxıcs as well"
-A contury of Docıal Reform ın Indıa/ S Natrajan/ Asıa Publicatıon House New York, 1959/ Page-157
24. डॉ0 अम्बेडकर के विचार/ "सारिका" सम्पादकीय/उन्होंने कहा था सं0 कमलेश्वर/अप्रैल- 1975/ पृ0-11

25 "अम्बेडकर व्याख्यानमाला" (प्राथम पुष्प) भाषण से मराठवाडा विश्वविद्यालाय-1972/धनंजय कीर

26 प्रो0 पाट्गावकर चन्द्रकान्त/"डॉ0 अम्बेडकर खास अक-1977"/स0 रमेश ढावरे/पृ0-54

27 डॉ0 बाबा साहेब अम्बेडकर/'प्रथम गोलमेज परिषद' इग्लैड में दिये गये भाषण से /20 नव 1930

28 धनंजय कीर/"अम्बेडकर व्याख्यानमाला' (प्रथम) भाषण से मराठवाडा विश्वविद्यालय-1972

29. न्यायमूर्ति आर0 आर0 भोले/डॉ0 अम्बेडकर खास अक- 1976-77

30 मधु लिमये/बाबा साहब अम्बेडकर एक चिन्तन/ पृ0-21

31 मधु लिमये/बाबा साहब अम्बेडकर एक चिन्तन/ पृ0-21

32 मधु लिमये/बाबा साहब अम्बेडकर एक चिन्तन/ पृ0-22

33 मधु लिमये/बाबा साहब अम्बेडकर एक चिन्तन/ पृ0-23

34 मधु लिमये/बाबा साहब अम्बेडकर एक चिन्तन/ पृ0-25

35 मधु लिमये/बाबा साहब अम्बेडकर एक चिन्तन/ पृ0-31

36 ए0 आर0 देसाई/ भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि/ पृ0- 20

37. डॉ0 पट्टाभि सीतारामैया/ 'कांग्रेस का इतिहास' भाग-1 पृ0-468-469

38 डॉ0 दुर्गाप्रसाद झाला/ प्रगतिशील हिन्दी कविता/ग्रन्थम् प्रकाशन कानपुर-1967/पृ0-45

39. डॉ0 विद्यालंकार निरूपण/भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति/ पृ0-42

40 कँवल भारती/दलित विमर्श की भूमिका/पृ0-110

41 हीरा डोम/ सरस्वती- 1914

42 कँवल भारती/दलित विमर्श की भूमिका/पृ0-112

43 कँवल भारती/दलित विमर्श की भूमिका/पृ0-113

44 रा0 ग0 जाघव/नवबाड्मयीन प्रवृत्ति व प्रमेय/ पृ0-3

45 डॉ0 शिवकुमार मिश्र/नया हिन्दी काव्य/ भूमिका से

46 कँवल भारती/दलित साहित्य की अवधारणा, लेख/दलित जन उभार में प्रकाशित/ बी0एम0एन0 प्रकाशन, लखनऊ/ पृ0-171

47 कँवल भारती/दलित साहित्य की अवधारणा, लेख/दलित जन उभार में प्रकाशित/ बी0एम0एन0 प्रकाशन, लखनऊ/ पृ0-172

48. नीता मल्ल, शिवकुमार मल्ल/दलित साहित्य एक मूल्यांकन, लेख/दलित जन उभार में प्रकाशित/बी0एम0एन0 प्रकाशन, लखनऊ/ पृ0-205

तृतीय अध्याय

नवजागरण कालीन—सांस्कृतिक आन्दोलन और साहित्य का समाज शास्त्रीय परिपेक्ष्य

पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी में आतंक से पीड़ित जनता को सहारा देने के लिए अनेक सन्त महात्माओं का जन्म हुआ, उन्होंने धर्म की सच्ची राह दिखाकर पीड़ितों का उद्धार किया।

नव जागरण काल में देश की विकट परिस्थिति में अनेक ऐसे प्रतिभा सम्पन्न महापुरूष अवतीर्ण हुए। जिन्होंने देश की जनता का सफल नेतृत्व किया तथा उन्हीं के सफल नेतृत्व के कारण सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का विकास हुआ। जिसके फलस्वरुप विभिन्न धार्मिक सांस्कृतिक आन्दोलन हुए।

समाज सुधार आन्दोलन के विषय में विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं– डॉ0 वीर भारत तलवार के अनुसार 'नवजागरण कालीन समाज सुधार आन्दोलनों का भक्ति आन्दोलन से कोई रिश्ता नहीं बन पाता है। जबकि डा. राम विलास शर्मा 'नवजागरण कालीन सुधारों की पृष्ठिभूमि भक्ति आन्दोलन को ही मानते हैं।'

नवजागरण कालीन सांस्कृतिक आन्दोलन में अंग्रेजी शासन का भी बहुत बड़ा योगदान रहा है। अंग्रेजी शासन के दिनों भारत में समाज और धर्म सम्बन्धी जो आन्दोलन शुरू हुए वे भारतीय जनता की उदीयमान राष्ट्रीय चेतना और उनके बीच पश्चिम के उदारवादी विचारों के परिणाम थे।'[1]

सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विकास के उन्नयन की विविध भूमिकाओं की दिशा में व्यक्तिगत समाज सुधारकों के साथ ही विभिन्न संस्थानों ने भी समाज एवं धर्म-सुधार का महत्वपूर्ण कार्य किया है। अमानुषिक रूढ़ि, कुरीतियों एवं परम्पराओं की जंजीरों से जकड़े हुये भारतीय समाज सुधारकों ने अंग्रेजों के शासन काल में पाश्चात्य शिक्षा तथा मशीनों के बढ्तें हुए प्रयोग आदि बाह्य प्रभावों से प्रेरित होकर सर्वागीण विकास एवं सुधार की दिशा में तीव्र गति से अग्रसर होना शुरू किया। समाज सुधार, धर्म सुधार तथा दलितोद्धार एवं अस्पृश्यता निवारण को लेकर विभिन्न समाजो, आश्रमों, सोसायटियों तथा व्यक्ति निवारण को लेकर विभिन्न सामाजों, आश्रमों, सोसायटियों तथा व्यक्तिगत सुधारकों ने महत्व पूर्ण कार्य किया।

1. ब्रह्म समाज–
(राजाराम मोहन राय) :–

भारत में दलित आन्दोलनों को समझने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन पर एक नजर डालना जरूरी है। 19वीं सदी में जो पूरे भारत में नवजागरण हुआ, उसकी शुरूआत बंगाल से हुयी, जिसके जनक राजाराम मोहन राय थे (1772-1833)। संस्कृत, अरबी, फारसी, तथा अंग्रेजी आदि कई विषयों के पंडित राजाराममोहन राय ने 1828 में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना द्वारा हिन्दुओं के प्रचलित आक्रमण धर्माडम्बरों के गढ़ पर किया। नवजागरण के इस

अग्रदूत ने सती-प्रथा, जाति भेद, मूर्तिपूजन आदि का विरोध किया तथा एकेश्वर वाद की नींव डाली। उन्होंने सती प्रथा का नैतिक आधार पर विरोध किया। समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर कर समाज में नयी स्फूर्ति लाने का प्रयास किया। धर्म के विषय में उनकी भावना बहुत व्यापक थी और सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी, जिससे रूढ़िग्रस्त समाज अपने में नवीन चेतना का अनुभव करने लगा था। 'राजा राममोहन साधक की अपेक्षा राजनीतिज्ञ और सामाजिक नेता अधिक थे। इसलिए धर्म के अध्ययन और विश्लेषण से उन्होंने वह शक्ति निकालनी चाही, जिससे हिन्दूखिस्तान होने से बचा सकते थे, धर्म के सुधारक कम समाज के सुधारक अधिक थे। उन्होंने जो कुछ किया उसे हम सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का कार्य कह सकते हैं।[2] भारतीयों के उद्धार के लिए वे अंगेजी शिक्षा को आवश्यक मानते थे। धार्मिक क्षेत्र में उन्होंने हिन्दू धर्म को नवीन रूप दे दिया। ब्रह्म समाज की स्थापना के पूर्व 1815 ई0 में ही 'आत्मीय सभा' की स्थापना की थी। उनकी संस्था में सबको बिना भेदभाव के सम्मलित होने का अधिकार था।

राजा राममोहन राय ने हिन्दुओं की धार्मिक विधि, सामाजिक व्यवहार में आमूलाग्र परिवर्तन लाने के लिए सहभोजन, तथा विजातीय विवाह जैसे-ठोस कार्यो की ओर लोगों को परावृत किया। ब्रह्मसमाज की अनेक शाखाएँ स्थापित कीं और उनके कार्यकर्ता इस दिशा में बेहतर आचरण करने लगे।

राजा राममोहन राय के उपरान्त ब्रह्मसमाज को प्रोत्साहन देने वालों में देवेन्द्र नाथ टैगोर तथा केशव चन्द्र सेन प्रमुख थे उन्होंने जाति-पांति के भेदभाव को मिटाकर सामाजिक सुधार का ठोस कार्य किया। "केशवचन्द्र सेन की बेटी का विवाह भी विजातीय विवाह हुआ था।"[3] लेकिन केशव चन्द्र सेन के बाद ब्रह्मसमाज का कार्य सीमित हो गया। क्योंकि सेन महोदय संस्कृत नही जानते थे। अतः संस्कृत की आधार शिला पर स्थापित हिन्दू धर्म उन्हें ग्राह्य न हो सका। इसलिए सेन के समय से ही ब्रह्म समाज के सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हो गया और आगे चलकर राजा राममोहन राय द्वारा प्रज्ज्वलित सामाजिक एवं धार्मिक सुधार की ज्योति टिमटिमाने लगी । किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि राजाराममोहन राय और उनके ब्रह्मसमाज का कार्य सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के लिए वरदान साबित हुआ।

2- ज्योतिबाफूलेः-

आधुनिक भारत में नवजागरण की लहर बंगाल से चली, ऐसा माना जाता है क्योंकि राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द को पैदा करने का श्रेय बंगाल को जाता है। परन्तु वास्तव में जिसे नवजागरण कहा जाता है उसकी लहर महाराष्ट्र से पैदा हुयी थी और यह लहर थी दलित मुक्ति के आन्दोलन की, जिसने न सिर्फ भारत का बल्कि पूरे विश्व का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था। इस लहर को पैदा वाले महात्मा ज्योतिबा फूले थे।

जिनका जन्म 1827 में और निधन 1890 में हुआ था।

महात्मा फुले की भूमिका नवजागरण की दृष्टि से राजाराममोहन राय के मुकाबले ज्यादा सशक्त और क्रान्तिकारी थी। उन्होंने ब्राह्मण वाद और जाति प्रथा के खिलाफ विद्रोह किया था। और दलित पिछ्ड़ी जातियों तथा भारतीय स्त्रियों की मुक्ति के लिए सामाजिक आन्दोलन चलाया था। वे पहले भारतीय थे जिन्होंने महाराष्ट्र में अछूतों और लडकियों के लिए स्कूल खोला था।

वे शूद्रो, अतिशूद्रों और स्त्रियों का अज्ञान दूर करके उनकी गुलामी की जंजीरे तोडना चाहते थे। उन्होंने ब्राह्मणी शास्त्रों, पुरोहितवाद और जाति प्रथा पर जो कठोर प्रहार किया, आगे चलकर वही डॉ0 अम्बेडकर की किताब 'जाति का उन्मूलन' का आधार बना।

महात्मा फुले ने 1873 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की थी और इसी वर्ष इनकी क्रान्तिकारी पुस्तक 'गुलामगीरी' प्रकाशित हुयी थी। इस समय तक रानाडे का 'प्रार्थना समाज' अस्तित्व में आ चुका था। इसके दो साल बाद 1875 में दयानन्द नें 'आर्य समाज' की स्थापना की थी। इससे आप अंदाजा लगा सकते है कि ये आन्दोलन जयोतिबा फुले की क्रान्ति की प्रतिक्रान्ति में पैदा हुए थे। महात्मा फुले ने जिन चीजों का खण्डन किया था दयानन्द ने उन्हीं का मंडन किया था। पर मूर्ति पूजा पाखण्ड और पुरोहितवाद के खिलाफ 'प्रार्थना समाज' और 'आर्य समाज' के सिद्धान्तों पर महात्मा फुले का ही प्रभाव था।[4]

महात्मा फुले ने अपनी पुस्तक 'गुलामगीरी को अमेरिका

के उन लोंगों को समर्पित किया था, जिन्होंने काले लोंगों को गोरों की गुलामी से मुक्त कराने के कार्य में मुख्य भूमिका निभाई थी। सवाल यहाँ महात्मा फुले की संवेदनशीलता का नही है बल्कि सवाल उनके समकालीन ब्राह्मण नेताओं की संवेदनहीनता है। क्या यह सवाल नही पैदा होता है। कि दयानन्द 'गुलामगीरी' जैसी पुस्तक की रचना क्यों नही कर सके? रानाडे प्रार्थना समाज को भंग करके 'सत्य शोधक समाज' में क्यों नही शामिल हो गये? अछूतों और भारतीय स्त्रियों के लिये स्कूल खोलने की पहल किसी ब्राह्मण ने क्यों नही की? क्यों महात्मा फुले को ही उनकी शिक्षा और मुक्ति की आवश्यकता अनुभव हुयी।[5]

सवाल यह भी उठाया जा सकता है कि श्वेत और अश्वेत के बीच जो रंगभेद की पीड़ा महात्मा फुले देख रहे थे, वह उनके समकालीन ब्राह्मण समाज सुधारक क्यों नही अनुभव कर सके? उत्तर बहुत आसान है। महात्मा फुले भोक्ता थे इसलिए सृष्टा भी थे। किन्तु ब्राह्मण भोक्ता नही थे, वे भेद भावों के जनक थे। उनका समानता में विश्वास नही था। वे कैसे दलितों की मुक्ति के पक्षधर हो सकते थे?

महात्मा फुले ने गुलामगीरी की प्रस्तावना में दक्षिण अफ्रीका और अमेरिका के काले गुलामों के जीवन का रोंगटे खडे कर देने वाला वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है, 'अमेरिकी लोंगों ने आज सैकड़ो साल से चली आ रही इस गुलामी की अमानवीय परम्परा को समाप्त करके गरीब अबोध लोंगों को उन चन्द लोंगों को जुल्म से

मुक्त करके उन्हें पूरी तरह से सुख की जिन्दगी बख्शी है।'[6] उन्होंने आगे लिखा है, 'इन बातों को जानकर शूद्रो अतिशूद्रों को अन्य लोंगों की तुलना में बहुत ही ज्यादा खुशी होगी क्योंकि गुलामी की अवस्था में गुलाम लोंगों को, गुलाम जातियों को कितनी यातनाएं वरदास्त करनी पडती हैं, इसे स्वयं अनुभव किये बिना अंदाजा करना नामुमकिन है। जो सहता है, वही जानता है।'[7]

अछूतों की पीड़ादायक गुलामी के जो चित्र 'गुलामगीरी' में हमें मिलते हैं, उससे उन्नीसवीं शताब्दी के आधुनिक भारत के समाज की उस वास्ततिक तस्वीर का पता चलता है जिसे ब्राह्मणों ने बनाया था। ऐसा ही एक चित्र है – 'शूद्रों में से कई जातियों को रास्ते पर थूकने की भी मनाही थी। इसलिए जब शूद्रों को ब्राह्मणों की बस्तियों से गुजरना पडता तो अपने साथ थूकने के लिये मिट्टी के किसी एक बर्तन को रखना पडता था। यदि शूद्रो की थूक जमीन पर पड़ गयी और उसको ब्राह्मण पंडे ने देख लिया तो उस शूद्र की खैर नहीं।[8]

इसी पुस्तक में महात्मा फुले अंगेजी राजसत्ता की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं, "लोग अंग्रेजों के उपकारों को कभी नही भूलेंगे। उन्होंने इन्हें आज सैंकडो साल से चली आ रही ब्राह्मणशाही की गुलामी की फौलादी जंजीरों को तोडकरके मुक्ति की राह दिखायी है। यदि वे यहाँ न आते तो ब्राह्मणों ने इन्हें कभी सम्मान और स्वतन्त्रता की जिन्दगी न गुजारने दी होती।"[9]

धनंजय कीर, जो ज्योतिबा फुले के पहले और प्रमाणिक

जीवनी लेखक माने जाते हैं, लिखते हैं कि यद्यपि महात्मा फुले ईश्वरवादी थे पर इसके बावजूद उन्होंने 'प्रार्थना समाज' की पूना इकाई में भाग लेने से इसलिए इंकार कर दिया था, क्योंकि वह मुख्य रूप से जनता से कटकर 'प्रार्थना' से जुड गया था। उनकी पुस्तक 'गुलामगीरी' जिसका उपशीर्षक ब्राह्मण की आड़ में भारतीय साम्राज्य के अन्दर गुलामी है, संवाद के रूप में लिखी गयी है। 'गुलामगीरी' से पूर्व फुले 'जोती' के नाम से जाने जाते थे, पर इस किताब पर उन्होंने अपना नाम 'जोती राव' लिखा है। महात्मा फुले बताते हैं, 'इस पुस्तक को लिखने का मेरा मकसद शुद्रों को सिर्फ यह बताना नही है कि ब्राह्मणों ने उनके साथ किस तरह छल किया, बल्कि सरकार की भी आँखे खोलना है कि उनकी उच्चवर्गीय शिक्षा पद्धति सरकार के हितों के लिये भी कितनी घातक है। मुझे आशा है कि सरकार मेरे शूद्र भाईयों की मुक्ति के लिए काम करेगी।'

3– नारायण गुरुः–

केरल में नारायण गुरु (1854) जाति प्रथा के विरूद्ध आन्दोलन चला रहे थे। वह केरल की ईझवा नाम की दलित जाति में पैदा हुए थे। उन्होंने सभी मनुष्यों के लिये 'एक जाति, एक धर्म और एक ईश्वर' की घोषणा की थी। उनका लोकप्रिय नारा था, 'जाति मत पूछों, जाति मत बताओं और जाति के बारे में मत सोचो।' जाति की धारणा को खत्म करने के लिये यह एक महत्वपूर्ण नारा था। वर्णव्यवस्था के खिलाफ उनके विद्रोह का तरीका भी क्रान्तिकारी था।

उन्होंने न तो मन्दिरों का विरोध किया और न मूर्ति पूजा का। उन्होंने नए मन्दिर बनाए, जिनमें अछूत बिना रोक-टोक के जा सकते थे। ब्राह्मणों के मन्दिरों में अछूतों के प्रवेश पर रोक थी। ऐसी स्थिति में अछूतों के लिए मन्दिर बनाना ब्राह्मणों के खिलाफ खुला विद्रोह था। वर्ण व्यवस्था को बहुत बड़ी चुनौती थी। अय्यप्पा पणिक्कर ने अपने एक लेख में लिखा है, 'अरुविप्पुरम के अछूत शिव की मूर्ति की स्थापना करना उनके प्रतिरोध का एक काव्यात्मक तरीका था।' नारायण गुरू के आंदोलन ने केरल के साहित्य में नई रचना शीलता को जन्म दिया। करूप्पन और कुमार आशान जैसे रचनाकार इसी आन्दोलन की देन थे, जिन्होंने जाति-प्रथा पर प्रहार करने वाली रचनाएं लिखी थी।

नारायण गुरू का आन्दोलन सिर्फ मन्दिर निर्माण नहीं था। वह ब्राह्मणवाद के खिलाफ विद्रोह का प्रतीक मात्र था। मुख्य रूप से वे दलितों के लिए स्कूल खोलने और उनके सामंती शोषण के विरूद्ध संघर्ष में आन्दोलन रत थे। उन्हें अपने इस लक्ष्य के लिए ब्राह्मण ओर नायर जमींदारों के क्रोध का भी सामना करना पडा।

4- <u>रामास्वामी नायकरः-</u>

दक्षिण भारत में जाति प्रथा और ब्राह्मणवाद के खिलाफ आन्दोलन चलाने वाले पेरियार रामास्वामी नायकर (1879-1973) थे। वे एक गैर ब्राह्मण परिवार में मद्रास (आज के तमिलनाडु) में इेरोडु नाम के कस्बे में जन्में थें। ये गड़रिया जाति

के थे, जो दक्षिण में नायकर कहे जाते हैं। इनके जीवन पर छुआछूत का बहुत गहरा असर पडा था। वे अछूत बालकों के साथ बचपन में खेलते थे। जिसके लिये उन्हें अपने घर में विरोध झेलना पडता था। अछूत बालकों को पढने पर रोक थी। यह देखकर दस वर्ष की अवस्था में उन्होंने भी स्कूल जाने से इंकार कर दिया था। अतः वे प्राइमरी कक्षा तक ही पढ़ सके थे। वे राष्ट्रीय आन्दोलन में कांग्रेस में शामिल हुए। पर 1925 ई० में उन्होंने पार्टी में ब्राह्मणवाद के वर्चस्व से दुःखी होकर कांग्रेस तयाग दिया और जस्टिस पार्टी में शामिल हो गये। 1944 ई० में उन्होंने द्रविण कड़गम की स्थापना की थी।

रामास्वामी नायकर को दक्षिण भारत में ब्राह्मणवाद के खिलाफ व्यापक जनचेतना जाग्रत करने का श्रेय जाता है। वे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। उनका कहना था– ईश्वर नही है, जिसने ईश्वर का आविष्कार किया वह मूर्ख है, जिसने ईश्वर का प्रचार किया वह दुष्ट है और जिसने ईश्वर की पूजा की वह असभ्य है। वह धर्मशास्त्रों की पवित्रता में विश्वास नही करते थे और उनकी होली जलाते थे। उन्होंने रामायण का अपने स्तर से अध्ययन किया था और 'रामायना अ टू रीडिंग' पुस्तक लिखकर उन समस्त धारणाओं और आस्थाओं को ध्वस्त कर दिया था, जो ब्राह्मणों ने आम जनता में पैदा की थी। इस पुस्तक ने इतना तहलका मचाया कि सरकार को उस पर रोक लगानी पड़ी। उनमें ब्राह्मणवाद के खिलाफ इतना जबरजस्त विद्रोह था कि उन्होंने दशहरे के अवसर पर रावण

दहन के विरूद्ध राम, लक्ष्मण और भरत के पुतले जलाए थे।

इन कुछ तथ्यों से अंदाज लगा सकते हैं कि रामास्वामी नायकर के विचार कितने क्रान्तिकारी थे। ये विचार ही सही मायने में नव–जागरण कर रहे थे। जाति प्रथा और वर्ण व्यवस्था के खिलाफ वही आन्दोलन मायने रखता है, जो उसे मान्यता देने वाले शास्त्रों का खण्डन करता है। ब्राह्मणों ने जाति प्रथा और वर्ण व्यवस्था को ईश्वर कृत घोषित कर रखा था। इसलिए किसी भी ईश्वर वादी आन्दोलन से यह आशा नही की जा सकती कि वह जाति प्रथा का खण्डन करेगा। लेकिन रामास्वामी नायकर ने स्पष्ट घोषणा की थी, 'भारत में जब तक ईश्वर का अस्तित्व रहेगा, तब तक छुआछूत रहेगी।' उन्होंने कठोर शब्दों में कहा, 'जिसदेश में अस्पृश्यता जैसी प्रथा चालू है, वह देश अग्नि, जल प्रलय, भूकम्प आदि से नष्ट क्यों नही हो जाता है।' उन्होंने यहाँ तक कहा, 'अछूत लोंगो के लिए क्या यह वांछनीय नही है कि वह शक्ति अथवा हिंसा के बल पर इन विषमताओं से मुक्ति प्राप्त करें या इस प्रयत्न में अपने को समाप्त कर डालें।'

रामास्वामी नायकर अछूत और पिछ्ड़ी जातियों तथा स्त्रियों के शिक्षा के इस हद तक समर्थक थे कि उन्होंने इसमें बाधा बनने वाले ब्राह्मणों को हमेशा के लिए शिक्षा से वंचित कर देने के लिए आवाज उठाई थी। उन्होंने कहा था कि कम से कम पन्द्रह वर्षो तक ब्राह्मणों एवं उच्च वर्गो का कालेज तथा तकनीकी संस्थानों में प्रवेश रोक देना चाहिए, तभी वर्ण व्यवस्था को खत्म किया जा

सकता है।

5- प्रार्थना समाजः-

जिस समय बंगाल ब्रह्म समाज के नेता समाज में नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न कर उसमें उचित सुधार करने में व्यस्त थे, उसी समय महाराष्ट्र में 'प्रार्थनासमाज' प्रायः उन्हीं उद्देश्यों को लेकर सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास कर रहा था। प्रार्थना समाज की स्थापना 1867 ई0 में बम्बई में डा. आत्माराम ने की थी। इसके प्रमुख नेताओं में न्यायमूर्ति महादेवगोविन्द रानाडे, डॉ0 रामकृष्ण गोपाल भंडारकार आदि थे। इस संस्था द्वारा स्थापित 'दलितोद्धार-मिशन' ने बड़ा महत्वपूण कार्य किया, जिसके उद्योग से जाति तथा समाज में काफी सुधार हुआ। अछूतोद्धार ही इसका विशेष लक्ष्य था। इस संस्था के द्वारा बम्बई में अस्पृश्यों के बच्चों के लिए स्कूल खोले गये। प्रार्थना समाज ने पंढरपुर में भी 1878 में 'अनाथ बालकाश्रम' की स्थापना की, जिसमें सभी जाति- धर्म के बच्चों के लिए प्रवेश खुला था।

प्रार्थना समाज ने सामाजिक सुधार का जो कार्य किया है वह महाराष्ट्र के सामाजिक सुधार आन्दोलन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लेकिन इस संस्था के सदस्यों में क्रान्ति की भावना नहीं थी। फलस्वरूप वे किसी से भी टकराना नही चाहते थे। इसका कारण यह भी हो सकता है कि समाज में उस समय जागृति न होने के कारण प्रार्थना समाज ने समझौता वादी दृष्टिकोण अपनाया होगा। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि महाराष्ट्रीय जनता में महाराष्ट्र के

सन्तों की निर्गुणोपासना में विशेष आस्था थी। इस संस्था के न पनपने का यह भी कारण हो सकता है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने इस सम्बन्ध में स्पष्टतः घोषित करते हुए लिखा है कि "महाराष्ट्रीय जनता ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास आदि की उपासना पद्धति में ही आस्था रखती थी। वह शुष्क ज्ञान की बात पचाने को तैयार कैसे होती ?"[10]

इस समाज ने अधिक विस्तार से समाज सुधारक कार्य नहीं किया, लेकिन अछूतोंद्धार का कार्य प्रारम्भ किया और समाज में समानता लाने या ऊंच नीच के भेदभाव को मिटाने का प्रयास किया। मनुष्य-मनुष्य में जाति भेद के कारण फैली हुयी असमानता समाज के लिए घातक है। मनुष्य में समता का भाव जागृत कर परम्परागत मूल्यों की प्रतिष्ठा करने के फलस्वरूप न्यायमूर्ति रानाडे तथा प्रार्थना समाज के सुधार कार्य को महाराष्ट्र कभी नही भूलेगा।

6- आर्य समाजः-

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 10 अप्रैल 1875 ई0 को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना द्वारा वेदों में पूर्ण आस्था लाने का प्रयास किया। राजाराममोहन राय जैसे सुधारक जहाँ एक ओर अंगेजी शिक्षा को अपनाने पर बल देकर राष्ट्र कल्याण की बात सोच रहे थे, वहीं दूसरी ओर अपनी संस्कृति की विशालता तथा श्रेष्ठता घोषित कर देश में प्राचीनता के आदर्श द्वारा नवचेतना निर्माण करने की आदर्श कल्पना स्वामी दयानन्द सरस्वती कर रहे थे। उन्होंने

अपने आन्दोलन में आत्मसुधार पर विशेष बल दिया था तथा आर्य समाज के माध्यम से वे हिन्दी धर्म में पली अस्पृश्यता, छुआछूत जैसी कुरीतियों का त्याग करके प्राचीन गौरव शाली भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा करना उनका लक्ष्य रहा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक ग्रन्थ के माध्यम से हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न वादों, पंथो और कुप्रथाओं का खण्डन किया है। इस ग्रन्थ में 'सत्य' की महत्ता प्रतिपादित की है। इसके बारे में स्वयं लेखक ने लिखा है कि 'मेरी कोई नवीन कल्पना या मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नही है किन्तु जो सत्य है उस को छोड़ना और छुडवाना मुझको अभीष्ट है।'[11]

दयानन्द वर्ण व्यवस्था को उसी रूप में मानते थे जिस रूप में मनु ने उसे स्थापित किया था। उनकी सबसे बड़ी चिन्ता इस्लाम और इसाई धर्मो के प्रभाव से हिन्दू धर्म को बचाना था। उनके समय में निचली जातियों का धर्मान्तरण जोरों पर था इसलिए उन्होनें शूद्रों को भी वेद पढ़ने या पढ़ाने की अनुमति दी थी। पर वे मनु की तरह ही समाज को चार वर्णो में विभाजित रखने के समर्थक थे। वे छुआ छूत के विरोधी जरूर थे, पर वे उन्हें अधिक से अधिक शूद्र श्रेणी में ही रखने के पक्ष में थे। हालांकि दलित सवाल पर दलितों की सीधी लड़ाई का समय आर्य समाज की स्थापना (1875) के पचास साल बाद आना था, पर उसने दलितों के विरूद्ध संकीर्ण वातावरण को थोड़ा कम जरूर किया था। इसके बावजूद आर्य समाज

दलित वर्गो में अपनी जगह नही बना पाया था। इसका कारण न सिर्फ यह था कि उसका नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथों में था, बल्कि यह भी था कि वह कबीर जैसे प्रगतिशील सन्तों का विरोधी था, जिन्होंने दलित सवाल को सबसे बडी ताकत दी थी और वेद शास्त्रों अवतारों तथा वर्ण व्यवस्था का जबरदस्त खण्डन किया था।[12]

धार्मिक सुधार के लिए प्राचीन रूढियों तथा आडम्बरों का घोर विरोध करते हुए समाज का जीवन स्तर ऊंचा उठाने के लिए एवं समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के लिए आर्य समाज तथा दयानन्द ने जो परिश्रम किया उस बारे में डॉ. अरविन्द जोशी लिखते हैं– "उन्होंने अपनी ही भाषा तथा अपनी ही संस्कृति के आध ार पर जाति को सचेत कर महान राष्ट्रीय कार्य कर दिखाया। राष्ट्रप्रेम, स्वतन्त्रता प्रेम, साहित्य तथा संस्कृति का पाठ पढ़ाने वाली उनकी संस्था आर्य समाज का भारत के सांस्कृतिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।'[13]

7– रामकृष्ण मिशनः–

स्वामी दयानन्द सरस्वती की भांति अपने अलौकिक जीवन से अनेक विद्वानों को वशीभूत करते हुए रामृष्ण परमहंस का व्यक्तित्व बंगाल की भूमि पर उभर आया। जिस समय दयानन्द उत्तर भारत में अपने कार्य में संलग्न थे उस समय रामकृष्ण ने बंगाल में अपने सन्त जीवन से समाज में सजीवता लाने का प्रयास किया। उनका धार्मिक दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। वे सभी धर्मो में एक ही

सत्य के दर्शन करते थे और सब धर्मो की मौलिक एकता पर विश्वास करते थे। यदि राममोहन राय भारत के मस्तिष्क थे और दयानन्द बलिष्ट बाहु थे तो रामकृष्ण उसकी आत्मा थे।[14] रामृकष्ण ने अपने सन्त जीवन से मानों प्राचीन ऋषियों की पुण्य स्मृति को ही सजीव कर दिया। उनमें यथार्थ रूप में परमहस होने के कारण धर्म का जीता जागता स्वरूप देखा जा सकता था।

रामकृष्ण परमहंस के परम शिष्य नरेन्द्रनाथ जो आगे चलकर विवेकानन्द नाम से जगद् विख्यात हुए ने इसाई मिशन से प्रभावित होकर 1898 ई0 में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। यद्यपि वे धार्मिक पुरूष थे, और वेदान्त ही उनका लक्ष्य था, परन्तु देश प्रेम भी उनमें किसी प्रकार कम नही था। उन्होंने अपने गुरू परमहंस के संदेश को देश देशान्तर में पहुँचाकर सच्चे अर्थो में गुरू भक्ति का प्रमाण प्रस्तुत किया। फलस्वरूप उनके विचारों से प्रभावित होकर अनेक विदेशी उनके भक्त बन गये। उन्होने हिन्दू धर्म को वास्तविक स्वरूप में विदेशियों के सम्मुख रख अपने देश एवं धर्म की प्रतिष्ठा की। स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व में प्राचीनता व नवीनता का एक सुन्दर समन्वय हमें देखने को मिलता है। उन्होंने प्रायः सभी सुधारों का मार्ग हिन्दू धर्म शास्त्रों में ही खोजकर भारतीय धर्म के प्रति अपनी पूर्ण आस्था का परिचय दिया । वे प्रत्येक भारतीय को कर्मण्य एवं जागृत देखने की इच्छा रखते थे वास्तव में उन्होंने जिस सम्पन्न तथा स्वत्रंत भारत के स्वप्न देखे थे आज हम उन्हीं को पूरा हुआ पाते हैं। परंमहस द्वारा अर्जित धर्म की अनुभूतियों को व्यवहारिकता

प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण कार्य विवेकानन्द ने किया है। देश गौरव और राष्ट्र प्रेम जैसे मूल्यों को स्वंय स्वामी जी ने स्वीकार कर जनता में उनका प्रचार भी किया । अतः हम कह सकते है कि इस देश का भाग्य बदलने वालो में स्वामी विवेकानंद जी अग्र स्थान पर है।

८. थियोसोफिकल सोसाइटी :-

थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना एक रूसी महिला मदाम ब्लावत्सकी और कर्नल आलकाट ने 1857 में अमेरिका में की थी। वह भारत भी आये परन्तु सोसाइटी का प्रचार 1897 इस्वी से आयरिश महिला श्रीमती ऐनीबेसन्ट ने किया। श्रीमती बेसेन्ट ने भारत वासियों के सम्मुख भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की आधुनिक वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर उन्हें देश के अतीत की सम्पन्नता का बोध कराया। इन्होंने भारत वासियों की चिरनिदा को भंग कर उन्हें अपने अतीत के इतिहास संस्कृति धर्म आदि पर गर्व करने की प्रेरणा दी। हालांकि डॉ0 ऐनीबेसेन्ट दलित विरोधी ही थी उन्होंने दलितों की शिक्षा तक का विरोध किया था परन्तु उन्हें अनके कार्यो के लिये याद किया जा सकता है जैसे होमरूल लीग की नींव डाली आदि। लेकिन उन्हें इस बात के लिये याद नहीं किया जा सकता कि वे दलित समर्थक थीं। कांग्रेस में दलित शिक्षा के सवाल के विरोध में ऐनीबेसेन्ट ने ही कहा था कि "अछूत गंदे होते है उनके शरीर से बदबू आती है उन्हें स्कूल में दूसरे स्वच्छ और स्वस्थ बच्चों के साथ

कैसे बैठाया जा सकता है"[15]

श्रीमती ऐनीबेसेन्ट का विश्वास था कि "अपने भूत पर अभिमान किये बिना भारत वासी राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिये सम्पन्न नहीं हो सकेंगे। इन्हें भारत भूमि से सच्चा अनुराग था और राष्ट्रीय आन्दोलनो में पूरा सहयोग देतीं थीं । इन्होंने राष्ट्र की बहुत भारी सेवा की और जनता में राष्ट्रीय भावो का प्रसार किया"[116] इन्होंने काशी में सेंट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना कर हिन्दू धर्म के प्रति अपनी अगाध आस्था प्रगट की। उनकें कार्यो का गौरव गान करते हुए महात्मा गांधी जी ने कहा था "ऐनीबेसेन्ट की सेवाओं का महत्व अद्वितीय है। जबतक भारत वर्ष जीवित है ऐनीबेसेन्ट की सेवायें भी जीवित रहेंगी जो उन्होंने इस देश के लिये की थीं। उन्होंने भारत को अपनी जन्म भूमि मान लिया था उनके पास देने योग्य जो कुछ था उसे उन्होंने भारत के चरणों में चढ़ा दिया था इसी लिये भारत वासियों की दृष्टि में उतनी प्यारी और श्रद्धेया हो गयीं।"[17]

ऐनीबेसेन्ट ने भारत के अध्यात्मिक ज्ञान से प्रभावित होकर भारतीयों को इसके प्रति सजग किया। इन्होंने परमपरागत मूल्यों के प्रतिष्टापन मान को दृष्टि में रखकर ही भारत की प्राचीन संस्कृति, इतिहास कला एवं सभ्यता से जनता को अवगत कराया। और उसकी महत्त्ता भी प्रतिपादित की। उन्होंने अतीत गौरव और वर्तमान के प्रति कर्तव्यनिष्ठा रखने पर बल दिया। गांधी युग के अविर्भाव के लिये भूमि तैयार करने का कार्य ऐनीबेसेन्ट ने ही किया।

मानववाद–मानवतावाद की विचारधाराः–

सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलनों की तरह ही आधुनिक काल में "मानववाद मानवतावाद" की विचार धारा साहित्य के क्षेत्र में एक आन्दोलन बनकर ही प्रस्थापित होने लगी है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य को इस सृष्टि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राणी माना गया है। तथा उसकी सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति की कामना भी की है। इसलिए प्रस्तुत विचार धारा मानव से सम्बन्धित होने के कारण इस पर भी विचार आवश्यक है।

मनुष्य सभी प्राणियों में आश्चर्यजनक है, वह चिन्तकों के सम्मुख जटिल समस्याएं प्रस्तुत करता रहता है क्योंकि वह पदार्थ, चेतना, मन, बुद्धि एवं आत्मा का एक मिला जुला पुंज है। इनमें से प्रत्येक तत्व का पृथक रूप से अध्ययन किया गया है, एवं उसमें आशातीत सफलता भी उपलब्ध हुयी, किन्तु उन सबकी एकता की समस्या जिसे मानव–सत्य कहा जा सकता है अभी तक नही समझ पायी है। शुरू से ही मनुष्य बुद्धि सम्पन्न होने के नाते अपनी स्थिति, परिवेश, भविष्य और सम्भावनाओं के विषय में चिन्तन मनन और विश्लेषण का विकास करता रहा है। लेकिन यह भी सत्य है कि "विकास की इस सहज प्रक्रिया के फलस्वरूप आज का व्यक्ति–समाज सबसे कठिन और संघर्षशील भुमिका पर खड़ा हुआ अपने में तीव्रतर होती हुयी घुटन और अवरोध का अनुभव कर रहा है। मनुष्य जाति का कोई भी वर्ग आज सन्तुष्ट और सुखी नहीं है। बौद्धिक वैभव के प्रति आवश्यकता से अधिक विश्वास

और वैज्ञानिक उपलब्धियों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न अहंमन्यता के पूर्ण उत्तेजना से उत्तेजित आज का व्यक्ति अनास्था के उस शुष्क क्षेत्र में भटकता प्रतीत हो रहा है जहाँ मानव जीवन की सहज संवेदनाएं तथा उदात्तभावनाएं उसके लिए अर्थहीन हो गयी हैं।[18]

नवजागरण काल में मानव गरिमा एवं उसके व्यक्तित्व की महानता के दर्शन को नये अयाम मिल गये। मानव व्यक्तित्व, उसके स्वरूप, उसकी प्रकृति एवं उसकी समस्याएं आदि को समझने के लिए प्रयत्नों का सिलसिला चल पड़ा, जिसके फलस्वरूप ज्ञान विज्ञान की नई-नई शाखाएं विकसित हुयी। ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली प्रगति के साथ ही मानव विषयक धारणा में भी क्रमशः परिवर्तन होता गया। नवजागरणकाल में मानव विषयक दृष्टिकोणों को ही "मानववाद" की संज्ञा दी गयी है। मानववाद के दृष्टिकोण के अनुसार इहलोक ही प्रधान है तथा मनुष्य से बढ़कर कोई चरममूल्य अथवा सत्य नही होता। मानव ही सब मूल्यों का प्रतिमान होना चाहिए। नवजागरण काल में चिन्तकों ने 'मानव' को ही अपने चिन्तन का विषय बनाया। चिन्तकों का ध्यान मानव की तरफ जाने के अनेकों कारण दिये जाते हैं, जिनमें महत्वपूर्ण है दो महायुद्धों की विभीषिका। दो महायुद्धो की असह्य पीड़ा से व्यक्ति संसार में आज "मानववाद तथा मानवतावाद" की चर्चा अधिक सुनाई पड़ती है। आज इस बात पर सभी एक मत हो गये हैं कि सकींर्ण विचार धाराओं-आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक के पथ से मानव प्रगति का रथ बढ़ नहीं सकता। आज जरूरत इस बात की है कि आदमी-आदमी

के ही विरूद्ध न खड़ा होकर अपनी बाधाओं से संघर्ष करे। बाधाएं असंख्य हैं। फलस्वरूप मानव प्रगति के लिए ऐसे ही साधन अपनाने होंगे जो मानववादी और मानवतावादी हों। क्योंकि मानववाद और मानवतावाद ऐसी विचारधाराएं है, जो मानव केन्द्रित है तथा मानव के पूर्ण विकास के लक्ष्य की जोरदार धोषणा करती हैं।

मार्क्सवाद का प्रचलनः

मानववादी विचार धारा से प्रेरित होकर ईश्वर के स्थान पर मानव को ही अध्ययन, मनन एवं चिन्तन का विषय बनाकर मानव महत्ता का उद्धोष करने वाले उन्नीसवीं शताब्दी के क्रान्तिकारी विचारक कार्ल मार्क्स ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, वे सिद्धांत ही मार्क्सवादी सिद्धांत की संज्ञा से अभिहित हुए हैं। भारतीय दलित वर्ग के उत्थान के लिए मार्क्स के विचार एवं सिद्धांत उपयुक्त होते हैं, मार्क्स प्रणीत सर्वहारा-वर्ग और अपने विषय से सम्बन्धित दलित-वर्ग में बहुत अधिक साम्य ढूँढ़ा जा सकता है। इसीलिए हम सर्वहारा वर्ग एवं दलित वर्ग में पाये जाने वाले साम्य और भेद का अध्ययन करेंगे, ताकि अपने विषय के अध्ययन की सीमा में मार्क्सवाद के अध्ययन की आवश्यकता स्पष्ट हो जायगी। साथ ही साथ प्रस्तुत साम्य से भी अवगत होना आवश्यक है।

सर्वहारा-वर्ग और दलित-वर्गः-

मार्क्सवाद के अध्येता यशपाल ने मार्क्स प्रणीत 'सर्वहारा'

वर्ग का विवेचन करते समय कई जगह सर्वहारा शब्द के बदले 'दलित' शब्द के बदले दलित शब्द का प्रयोग किया है। सम्पन्न मनुष्य ने अशान्ति और असन्तोष प्रकट न होने देने के लिए जहाँ अपनी शक्ति से काम लिया वहाँ उसने बनाई व्यवस्था की रक्षा के लिए सिद्धान्त भी बनाए। उसने निर्वलों और साधन हीन लोंगों को सन्तोष की शिक्षा दी। परलोक में दण्ड का भय दिखाया गया है और विषमता को बढ़ने से रोकने के लिए दलितों की अवस्था को सहज बनाने के लिए उसने बलवानों और साधन सम्पन्न लोंगों को दया सहानुभूति और 'त्याग का भी उपदेश दिया'[19]। तथा दास प्रथा के काल और सामन्तयुग में साम्यवाद की पुकार का उद्‌देश्य था, उस समय की शासन व्यवस्था को दृढ़ करना और दलित वर्ग को अपनी हित के लिए जीवित बनाए रखना"[20]। प्रस्तुत उद्धरणो में प्रयुक्त दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। लेकिन इन दो शब्दों में पर्याप्त भेद भी हैं। 'दलित' की व्याप्वित अधिक है तो 'सर्वहारा' की सीमित है दलित के अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा वर्ग के अन्तर्गत आ सकता है लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए हम बाद्धय नही हो सकते। इसका कारण यह है कि सर्वहारा वर्ग केवल मजदूरों तक ही सीमित है। भारत में अंग्रेजी शसन काल में आधुनिक उद्योग घन्धों यातायात के आधुनिक साधनों और बागानों की स्थापना हुयी, जिसके कारण आधुनिक

मजदूर वर्ग का जन्म हुआ। जैस-जैसे बागानों अधुनिक कल कारखानों खनिज उद्योगों आवागमन के साधनों आदि में वृद्धि हुई। भारतीय सर्वहारा वर्ग मुख्यतः उन किसानों और हस्तशिल्पकारों से निर्मित हुआ जो दरिद्र हो गये थे और अब मजदूरी कमाने लगे थे।[21] इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'सर्वहारा' शब्द की सीमा में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है। अतः स्पष्ट हो गया कि दलित और सर्वहारा में व्याप्ति की दृष्टि से बहुत अन्तर है लेकिन इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि सम्पूर्ण दलित वर्ग आर्थिक विषमता और शोषण का शिकार रहा है।

साहित्य का समाज शास्त्रीय परिपेक्ष्य

विशाल मानव जाति की आत्मा का स्पंदन ध्वनित करने वाला साहित्य समाज की चेतना में ही सांस लेता है। जनता के सुख दुख हर्ष-विषाद आदि का चित्रण करते हुए वह जीवन की व्याख्या करता है। अतः साहित्य पूर्णतः मानव केन्द्रित है और मानव समाज में रहता है। फलस्वरूप साहित्य का समाज के साथ गहरा संबन्ध है तथा साहित्य समाज का दर्पण है। "कला अथवा साहित्य का ध्येय जन-जीवन का चित्रण करना, शोषण अथवा दासता के विरुद्ध छेडे गये जनता के संग्राम में उसका अस्त्र बनना है"[22]। साहित्य और समाज के निकटवर्ती सम्बन्ध का मूल कारण "व्यक्ति" है। साहित्य की निर्मित समाज के घटक व्यक्ति रचनाकार द्वारा होती है। साहित्य निर्माण में तीन घटक महत्वपूर्ण हैं- लेखक या कवि साहित्य कृति

और पाठ्क या श्रोता ये तीनों घटक समाज से ही सम्बन्धित हैं। फलस्वरूप साहित्य और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित बन जाता है। रचनाकार लेखक या कवि जिस समाज में रहकर उसका सूक्ष्मता से अध्ययन या अनुभव करता है, "उसी को ही साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। फलस्वरूप कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसी मानसिक खाद मिल जाती है, वैसी ही उसकी कृति होती है। वह अपने समय के वायुमंडल में धूमते हुए विचारो को मुखरित कर देता है। किन्तु जिसको सब लोग कह नही सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव शक्ति जोरों से बढी-बढी रहती है"[23]। फलस्वरूप साहित्य युग समस्या का स्पष्ट चित्र बन जाता है, उसमें व्यक्त विचारों के साथ तत्कालीन समाज की विचारध ारा का भी अंकन होता है। साथ ही साथ साहित्य हमेशा पथप्रदर्शक बनकर मानव समाज की सेवा करता है। समाज में जो घटित होता है, उसका चित्रण समाज में किया जाता है। उसी प्रकार आदर्शवादी साहित्य में चित्रित 'आदर्श समाज' से प्रेरणा पाकर मानव समाज उसका अनुकरण करता है। कुछ साहित्यकारों की लेखनी में इतनी महान शक्ति रहती है कि वे अपने आदर्श और कल्पना के भावुक एवं हृदयस्पर्शी चित्रण से पूरे समाज में परिवर्तन ला सकते हैं। दिशाहीन समाज का पथ प्रदर्शन करने वाले साहित्य का समाज से सम्बन्ध प्रस्थापित करते हुए डा० गोबिन्द त्रिगुणायत ने साहित्य का महत्व इस प्रकार बताया है "साहित्य हमारे अव्यक्त भावों को व्यक्त करता है उसमें जीवन के विविध रूप हमारे सामने आते है। साहित्यकार उन

रूपों के प्रति हमारे आदर्श को निर्धारित करता है। अतः साहित्य जीवन और समाज का केवल चित्र ही नही उपस्थित करता बल्कि सुधारक की भांति उनकी त्रुटियों का संकेत कर उन्नति मार्ग का प्रदर्शन भी करता है"[24]।

अतः स्पष्ट है कि साहित्य और समाज का सम्बन्ध अटूट है। साहित्य मानव समाज के इतने निकट पहुंचा है कि मानव के हर सुख में, दुख में, शोक-विषाद में साथ रहकर वह मानव की सहायता करता है साहित्य और समाज का यह सम्बन्ध भूतकाल में बना रहा, वर्तमान काल में वह दृढ़तर हो रहा है, तो भविष्य में निश्चित रूप सें दृढ़तम हो जायेगा।

साहित्य सम्बन्धी विविध दृष्टिकोण

साहित्य शब्द को लेकर विविध विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं। मूलतः साहित्य शब्द की व्याप्ति बहुत अधिक है। इससे समस्त जीवन की अभिव्यक्ति और सम्पूर्ण ज्ञान की चेतना का बोध होता है। इस व्याप्ति के कारण ही साहित्य सम्बन्धी विविध दृष्टिकोण पाये जाते है। यहाँ हम साहित्य सम्बन्धी विविध दृष्टिकोणों को संक्षेप में विवेचन करेगें।

महाकवि रवीन्द्र नाथ ने साहित्य सम्बन्धी अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है "सहित शब्द से साहित्य की उत्पत्ति हुई है। अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का

भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ साथ मिलन है, यही नही वरन् यह बतलाता है की मनुष्य के साथ मनुष्य का अतीत के साथ निकट का मिलन कैसे होता है"[25] रवीन्द्र नाथ टैगोर के अनुसार साहित्य विरोधात्मक तत्वों अविरोध स्थापित कर सबको एक सूत्र में बांधने का प्रयास करता है।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण इस प्रकार दिया गया है– "साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषा के अभाव में सर्वोत्तम विचार उत्मोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति के लिये व्यहृत हो सकता हैं"।

मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य को "जीवन की व्याख्या" कहा है। इधर हिन्दी के विद्वान महावीर प्रसार द्विवेदी ने "ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य" कहा है। मुंशीप्रेमचन्द ने साहित्य को "जीवन की अलोचना" कहा है, तो जयशकंर प्रसाद काव्य या साहित्य को आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील मानते हैं।

साहित्य में जिस पक्ष पर जिसकी दृष्टि पड़ी उसने उसी स्वरूप की व्याख्या की हुई दिखाई देती है। त्रिगुणायत जी ने समस्त मतों को दृष्टिकोण में रखकर साहित्य की रूपरेखा इस प्रकार बताई है कि "साहित्य जीवन और जगत के गत्यात्मक सौंदर्य की वह भावमयी झांकी है, जिनके सहारे नित्य नवीन आनन्द और कल्याण का विधान होता है"[26]।

साहित्य को कला भी माना जाता है। लेकिन साहित्य

कला मूर्त कला है या अमूर्त कला इस सन्दर्भ में विचाराकों में मतभिन्नता है। वस्तुतः साहित्य मूर्त और अमूर्त दोनो के मध्य की कला है इसी लिए कला सम्बन्धी विविध दृष्टिकोणों पर यहां विचार करना अनुचित नही होगा।

कला सम्बन्धी विविध दृष्टिकोण

भारतीय विद्वान कला का सम्बन्ध विशेषकर बुद्धि से और साहित्य का सम्बन्ध हृदय तथा आत्मा से मानते हैं। शुरु से ही भारत में कला वास्तव में एक लौकिक रंजन की वस्तु मात्र समझी जाती थी इसके विपरीत साहित्य आत्मा की अभिव्यक्ति या कला होने के कारण अलौकिक समझा जाता था । संस्कृत विद्वानों ने तो कला को "कामार्थ संश्रय" काम के उद्दीपन में सहायक मानने के कारण साहित्य को कला सें भिन्न माना है। उन्होंने साहित्य को आत्मा की कला के रूप में ग्रहण किया है।

कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ कला में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को विशेष महत्व देते थे। कला का प्रधान लक्ष्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना है न कि सूक्ष्म और विश्लेषण प्रधान वस्तुओं की विवेचना करना।

1: कला अभिव्यंजना का ही मूर्त रूप है 2: कला में दिव्यता भी रहनी चाहिए। 3: कला सत्य की सजीव और स्वाभाविक अनुकृति है। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक रामचन्द्र शुक्ल मानते थे कि एक की अनूभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कला का रहस्य होता है।

महात्मा गाँधी जी के मतानुसार तो कला आत्मा का ईश्वरीय संगीत है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृत विद्वान कला और साहित्य को भिन्न रूपों में भी देखते हैं। लेकिन अंग्रेजी और हिन्दी के बहुत से विद्वान आत्माभाव की अभिव्यक्ति को कला मानते हैं। अधिकाश विद्यान कला को अभिव्यंजना मानने के पक्ष में ही हैं।

अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार आनन्द विद्वान ही कला का प्रधान लक्ष्य है। परन्तु पाश्चात्य साहित्य में कला के लक्ष्य या प्रयोजन को लेकर बहुत से बाद उठ खडे हुए हैं, जिनमें दो महत्वपूर्ण बाद हैं 1- कला कला के लिए 2-कला जीवन के लिए।

1-कला कला के लिएः-

"कला जीवन के लिए" वाले सिद्धान्त का विरोध करने वाले विद्वानों ने "कला कला के लिए" सिद्धान्त की प्रस्थापना की। उनके मतानुसार जिस प्रकार विज्ञान, दर्शन, गणित आदि विधाएं सौन्दर्य के मापदण्ड से नही नापी जा सकती, उसी प्रकार कला को भी सत्य और नीति के बन्धन से आबद्ध नही किया जा सकता है। लेकिन कलावादी विचारक कला को काल्पनिक जगत् की एक आदर्श वस्तु मात्र समझते हैं। वे सत्यं, शिवम, सुन्दरम, में सुन्दरम को ही महत्व देकर सत्यं और शिवं को कला से दूर रखते हैं। वे कला को प्रेम और सौन्दर्य की मादक अभिव्यक्ति मात्र मानते हैं। क्रोंचे का अभिव्यंजना वाद इसी मत का पोषक है और फ्रायड का वासना बाद

भी इस मतवाद के पोषण में योगदान देता है। भारत में कला को पवित्र माना गया है। प्राचीन ऋषिगण तो कला का चरम लक्ष्य ब्रह्मनुभूति मानते थे। लेकिन पाश्चात्य विचारों के प्रभाव के कारण बहुत से साहित्यकारों ने भी "कला कला के लिए" वाले सिद्धान्त का समर्थन किया है। हिन्दी में छायावादी कवि एवं छायावाद के पोषक आचार्य भी इसी सिद्धान्त के समर्थक प्रतीत होते हैं। मराठी साहित्य जगत् में इस सिद्धान्त का जोरदार समर्थन करने वाले लेखक ना. सी. फडके थे।

2—कला जीवन के लिएः—

भारतीय विद्वानों के कला सम्बन्धी विचार उदात्त एवं महान होने के कारण इस सिद्धान्त की सर्वाधिक प्रतिष्ठा भारत में हुयी। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि पाश्चात्य देशों में इस मत का समर्थन करने वाले विद्वानों की कमी है इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रचार पाश्चात्य देशों में ही हुआ। इन विद्वानों के मतानुसार समाज जीवन के उन्नयन में उपयुक्त वस्तु सुन्दर है। साहित्य भी सामाजिक उन्नयन का एक महत्वपूर्ण अंग होने से वह केवल कला मात्र न होकर जीवन के लिए वरदान ही है। कला जीवन की आलोचना तथा जीवन के लिए उपयोगी वस्तु समझकर पाश्चात्य विद्वानों के साथ ही भारत में भी संस्कृत काल से लेकर आधुनिक काल तक के अनेको विद्वानों ने प्रस्तुत मत का परस्कार किया हैं। अतः आधुनिक काल में हिन्दी के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं प्रेमचन्द

तथा मराठी के लेखक ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता स्वर्गीय वि. स. खाण्डेकर आदि ने कला को मिथ्या सौन्दर्य से जीवन की ओर लाने का महान प्रयास किया ।

साहित्य में दलित वर्ग की स्थिति

साहित्य समाज का दर्पण होने के कारण साहित्य में समाज के हर वर्ग का वर्णन दिखायी देना स्वाभविक ही है। अतः यहां यह नहीं कहा जा सकता कि सभी साहित्य में सभी वर्गो का चित्रण समान मात्रा से होता है या होना चाहिए। दलित वर्ग के सन्दर्भ में देखा जाय तो विश्व भर में साहित्य में थोडे अधिक रूप में दलित वर्ग का चित्रण पाया जाता है। अंग्रेजी साहित्य का 'ब्लैक लिटरेचर' इसका प्रमाण है। वहाँ के नीग्रो की स्थिति भी दलित जैसी ही है। इन काले लोंगों की समस्याओं को साहित्यिक रूप देने के हेतु ही वहाँ 'ब्लैक लिटरेचर' का जन्म हुआ। मराठी साहित्य में तो दलित वर्ग की स्थिति अत्यन्त व्यापक एवं परिष्कृत हो चुकी है। मराठी में दलित साहित्य के नाम से एक अलग मंच का ही निर्माण हुआ है। मराठी साहित्य में दलित वर्ग का चित्रण जितने व्यापक पैमाने पर है उतना अन्य किसी भी साहित्य में नहीं है। इसका कारण यह है कि सामाजिक सुधार आन्दोलनों का मूल स्रोत महाराष्ट्र तथा मराठी साहित्य है। महाराष्ट्र में कर्मवीर भाउराव पाटिल जैसे शिक्षा महर्षियों ने ज्ञान की गंगा सामान्य समाज तथा दीन-हीन दलित तथा बहिष्कृतो की झोपडी-झोपडी तक पहुँचा दी है। परिणाम स्वरूप दलित वर्ग में से अनेकों उपेक्षित व्यक्ति ज्ञानार्जन से विद्याविभूषित होकर

कवि, लेखक एवं विद्वान आलोचक भी बन गये हैं। दलित वर्ग की खाई से बाहर निकला हुआ दलित कवि एवं लेखक मराठी साहित्य के क्षेत्र में दलित साहित्य का स्रजन करके अपना एक अलग मंच स्थापित कर चुका है।

हिन्दी साहित्य में भी दलित वर्ग की स्थिति उतनी निकृष्ठ नहीं है जितना लोग सोंचते है। मराठी की तरह हिन्दी में दलित वर्ग का एक अलग मंच तो नहीं है लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हिन्दी में दलित वर्ग का चित्रण ही नहीं है। हिन्दी साहित्य के इतिहास की ओर अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सन्त कबीर हिन्दी में आद्य दलित साहित्यिक हैं। आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल से लेकर नयी कविता समसामयिक कविता में यत्र-तत्र दलित वर्ग तथा उपेक्षित, शोषित, पीडित मानव की असहाय स्थिति का चित्रण मिलता है।

हिन्दी का गद्य साहित्य दलित वर्ग के चित्रण की दृष्टि से पद्य साहित्य की तुलना में अधिक समृद्ध है। गद्य में दलितों की व्यथा, वेदना, पीड़ा एवं समस्या को बहुत ही अच्छी तरह से चित्रित किया गया है। फलस्वरुप मराठी के 'दलित साहित्य' से मिलता जुलता हिन्दी में भी 'समान्तर साहित्य' नाम से एक अलग मंच का निर्माण हो रहा है। समान्तर साहित्य हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत कहानी विधा के आधार पर अपने पैर पक्के कर रहा है। मराठी का दलित साहित्य इतनी द्रुत गति से उभर आने का यह कारण भी एक है कि उस साहित्य में कविता के माध्यम को अधिक महत्व दिया

गया है।

निष्कर्ष

सामाजिक एव धार्मिक सुधार आन्दोलन आधुनिक युग की देन है। सदियों से कुंठित मानव आधुनिक युग में अपने आप को तथा अपनी महान शक्ति को पहचान सका। दलित शोषित एवं पीड़ित समाज अपना विद्रोह अनेको माध्यमों से व्यक्त करने लगा। साहित्य के क्षेत्र में इसकी स्पष्ट छाप दिखाई देती है परम्परागत साहित्यिक मान्यतओं को ठुकरा कर आधुनिक साहित्यकारों ने मानव महत्ता से प्रेरित होकर साहित्य के क्षेत्र में नये आयाम खोल दिये। दलित आन्दोलन पूरे देश में गतिमान हो गया और उसका चित्रण साहित्य में होने लगा। लेकिन बडे दुःख के साथ कहना पडता है कि दलित आन्दोलन शहरों तक ही सीमित रहा है। वास्तव में देहातों में रहने वाले ही अधिकतर अत्याचारों का शिकार बन जाते हैं। शहरों में होने वाले अत्याचारों की तुलना में देहातों में होने वाले अत्याचारों का स्वरूप उग्र रहता है। आज आवश्यक है कि दलित आन्दोलन तथा दलित साहित्य जिसमें दलितों की वेदना का सहानुभूति पूर्ण चित्रण हो उस परिवेश तक पहुँच जाए जहाँ उपेक्षित दीन, दलित, शोषित एवं पीड़ित वर्ग देहात के धनिक एंव सवर्ण वर्ग तथा पूँजीवाद की चक्की में पीसा जा रहा है। साहित्य को इस आन्दोलन की ओर आस्थापूर्वक देखना चाहिए। इस सन्दर्भ में दलितों की वेदना एवं पीड़ा को अभिव्यक्त करना साहित्य का फर्ज है। दलित आन्दोलन के विश्व व्यापी संग्राम में साहित्यिक अपना योगदान तभी दे पायेगा जबकि

वह साहित्य के माध्यम से दलितों का विद्रोह एवं उनकी क्रान्ति की आवाज बुलन्द करेगा। आज साहित्य के सामने भी यह चुनौती है कि वह एक और साहित्यिक आन्दोलन की भूमिका निभाता रहे तो दूसरी ओर सांस्कृतिक आन्दोलन को भी तीव्र गति देने में सफलता प्राप्त करे।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 ए0 आर0 देसाई/भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि/ पृ0-200

2. रामधारी सिह दिनकर/संस्कृति के चार अध्याय/पृ0- 536

3 टी0टी0माने/दलित जीवन और मराठी वाड्मय (शोधग्रन्थ) शिवाजी विश्वविद्यालय-1971/ पृ0-345

4 कँवल भारती/दलित विमर्श की भूमिका/पृ0-52

5. ज्योतिबा फूले रचनावली/ स0 डा0 विमल कीर्ति

6 गुलामगीरी/ज्योतिबा फूले/अनुवादक-एस0 मूर्ति

7 गुलामगीरी/ज्योतिबा फूले/अनुवादक-एस0 मूर्ति

8 गुलामगीरी/ज्योतिबा फूले/अनुवादक-एस0 मूर्ति

9 गुलामगीरी/ज्योतिबा फूले/अनुवादक-एस0 मूर्ति

10 डॉ0 विनयमोहन शर्मा/हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास/पृ0-14

11 स्वामी दयानन्द/सत्यार्थ प्रकाश/पृ0-39

12 कँवल भारती/दलित विमर्श की भूमिका/ पृ0- 50

13. डॉ0 अरविन्द जोशी/गाँधी विचार धारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव/पृ0-27

14 डॉ0 विनय मोहन शर्मा/ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास/पृ0-13

15 कँवल भारती/दलित विमर्श की भूमिका/ पृ0- 50

16 डॉ0 विद्यानाथ गुप्ता/हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना/ पृ0- 208

17 रामधारी सिंह दिनकर/संस्कृति के चार अध्याय/पृ0-567

18 डॉ0 देवेश ठाकुर/आधुनिक हिन्दी साहित्य की मानवता वादी भूमिकाएं/पृ0-1

19 यशपाल/मार्क्सवाद/विप्लव प्रकाशन, लखनऊ/पाँचवा संस्करण, 1969/ पृ0-11

20 यशपाल/मार्क्सवाद/विप्लव प्रकाशन, लखनऊ/पाँचवा संस्करण, 1969/ पृ0-16

21. ए0 आर0 देसाई/भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि/पृ0-173

22 श्री पाद अमृत डागे/ जनजीवन और साहित्य/पृ0-8

23 गुलाब राय/ साहित्यिक निबन्ध-सं. राजनाथ शर्मा/पृ0- 371

24 डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत/शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त भाग एक/भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, 1970/पृ0- 28

25 रवीन्द्र नाथ टैगोर/ "साहित्य" (बंगला में) / पृ0-8

26 डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत/शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त भाग एक/भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, 1970/पृ0- 6

चतुर्थ अध्याय

बीसवीं सदी में नव जागरण:—
छायावादी काव्य आन्दोलन के बहाने परिवर्तित साहित्यिक चेतना की पड़ताल

छायावाद का स्वरूपः—

छायावाद हिन्दी साहित्य की अत्यन्त समृद्ध सौन्दर्य—शालिनी तथा सशक्तकलात्मक काव्य धारा है। यह आधुनिक काल का सबसे महत्वपूर्ण साहित्यक आंदोलन है। मोटे तौर पर दो महायुद्धों (1914—18 तथा 1935—36) के बीच की काव्य घारा को छायावादी काव्य धारा कहा जाता है। छायावाद के पूर्णतः नवीन एवं विद्रोही होने के कारण पुराने रूढ़िवादी आलोचक इस विचारधारा का स्वागत नहीं कर सके। लेकिन अनेकों विरोधों का बोझ ढोते हुए भी छायावाद युगीन साहित्य अपने लक्ष्य तक पहुंचने में सफल हो सका है।

हिन्दी साहित्य में 'छायावाद' शब्द का प्रयोग 1921 ई0 के आस पास हो चला था। आगे चलकर छायावाद के लिए 'मिस्टिसिज्म' शब्द अंग्रेजी पर्याय स्वरूप प्रयुक्त होने लगा। मिस्टिसिज्म शब्द के आते ही 'रहस्यवाद' शब्द की बुनियाद पड़ गयी। सन् 1930 के आस पास छायावाद के साथ 'रोमैंन्टिसिज्म' नाम भी जुड गया। 'रोमैंन्टिसिज्म का अनुवाद 'स्वछन्दतावाद' बन कर स्वछन्दतावाद छायावाद का एक अंग होते हुए भी कभी—कभी छायावाद को 'स्वछन्दतावाद' के नाम से भी अभिहित किया जाने

लगा। अतः स्पष्ट है कि छायावाद को विभिन्न नामों से जाना गया है । जहाँ तक रहस्यवाद, छायावाद और स्वछन्दता वाद शब्दों का शब्दार्थ और लोक प्रचलित भाव का सम्बन्ध है, इन तीनों में निःसंदेह थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। रहस्यवाद अज्ञात की जिज्ञासा है, तो छायावाद चित्रण की सूक्ष्मता और स्वछन्दतावाद प्राचीन रूढ़ियों से मुक्ति की आकांक्षा। परन्तु जहाँ युग विशेष की काव्यधारा के सम्बन्ध में इन तीन शब्दों रहस्यवाद, छायावाद और स्वछन्दतावाद में एक ही धारा की विविध प्रवृत्तियां मालूम होती हैं।[1]

छायावाद शब्द का विच्छेद करते हुए तथा उसका शब्दशः अर्थ निकालते हुए समीक्षकों ने छायावादी काव्य धाराकी अनेक परिभाषाएं देकर विस्तृत व्याख्या की है। विस्तृत व्याख्याओं के साथ विस्तार में न जाते हुए सामान्य तौर पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि छायावाद प्रसाद, पन्त, महादेवी और निराला की उन समस्त कविताओं का द्योतक है जो 1918 से 1936 के बीच लिखी गयी है।

प्रारम्भिक रूप में छायावादी कविता जिस रूप से लिखी गई और आलोचकों की उसके सन्दर्भ में जो धारणा रही, धीरे-धीरे दोनों में परिवर्तन आया। अतएव छायावाद के प्रारम्भिक अर्थ में क्रमशः विस्तार आता गया। यह तथ्य छायावादी कविता में दलित-वर्ग का चित्रण समा लेने में सहायक सिद्ध हुआ। फलस्वरूप छायावादी काव्य में आत्मीयता के आने से दलित वर्ग की पीड़ा को काव्य रूप प्राप्त हुआ। लेखक और पाठक के बीच की खाई समाप्त

हो गयी। 'हिन्दी कविता की पूरी परम्परा का अनुशीलन करते हुए जैसे ही कोई पाठक छायावाद की सीमा में प्रवेश करता है, ये कवितायें तुरन्त अपनी आत्मीयता से उसे आकृष्ट कर लेंती हैं। यहाँ वह देखता है कि कवि निर्वैक्तिकता का सारा आवरण उतार कर एक परिचित की भाँति अत्यन्त निजी ढंग से बातें कर रहा है। यहाँ हृदय के भाव किसी कल्पित कहानी अथवा पौराणिक पुरुषों के माध्यम की अपेक्षा नहीं रखते। अपने मन की बातें कवि सीधे-सीधे अपने मुख से उत्तम पुरूष में कह रहा है और पाठक को इस तरह उन भावों के साथ तादात्म्य अनुभव करने में बड़ी सुगमता होती है। इससे कवि और पाठक के बीच परस्पर सुखद अनुभूति होती है।[2]

वास्तव में 'छायावाद' की प्रेरणा पश्चिम से मिली थी, पर वह पाश्चात्य 'रोमैन्टिसिज्म या मिस्टिसिज्म की अनुकृति मात्र न था। उसका जन्म तब हुआ जब हमारे देश में सुधारवादी आन्दोलन का जोर था और हिन्दी साहित्य में पौराणिकता की प्रवृत्ति क्रियाशील थी। छायावाद ने क्रान्ति की पताका के साथ हिन्दी काव्य में प्रवेश किया और काव्य की प्राचीन पद्धति पर आक्रमण कर दिया परिणाम स्वरूप कलापक्ष की दृष्टि से एक सर्वथा नवीन प्रयोग देखा जाने लगा।

कुछ समय के पश्चात राष्ट्रीय आन्दोलन एवं महात्मा गांधी, रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा विवेकानन्द के मानवता वादी दृष्टिकोण का भी इस पर प्रभाव पड़ा और छायावादी कवियों ने जाति धर्म के सुधार की संकीर्ण मनोवृत्ति, प्राचीन रूढ़िवादिता और परम्परागत

सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दृष्टिकोण की अवहेलना कर उपेक्षित, शोषित, पीड़ित दीन हीन दलित वर्ग की करूणा को काव्य रूप देकर अलौकिक विश्वप्रेम के गीत गाने आरम्भ किये।

लेकिन इस वास्तविकता से दूर जाते हुए छायावादी काव्य पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि छायावादी काव्य में दलित-वर्ग का चित्रण पाना असम्भव है। उसका कारण यह है कि छायावादी कविता सीधे मनुष्य के सुख-दुख से सम्पर्क प्रस्थापित करते हुए प्रकृति के माध्यम से मानव के पास पहुँचती है इसीलिए तो आलोचकों ने छायावादी कविता को वायवी भी कहा है। लेकिन छायावादी कवियों ने काव्य के क्षेत्र में जो अमूलाग्र क्रान्ति की है उसको देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद में रहस्यवाद है, प्रकृति का विषय फिर भी वह मानव से दूर नहीं है। वस्तुतः छायावादी युग द्विवेदी युगीन स्थूल मानव विषयक धारणाओं के विरूद्ध सूक्ष्म धारणाओं की प्रतिष्ठापना का युग था। अतः प्रकृति की सूक्ष्मता में पहुँचना और मानव के साथ उसका सम्बन्ध प्रस्थापित करना एक महत्वपूर्ण योगदान सिद्ध होता है।

छायावाद के सुधी समीक्षक डा. नामवर सिंह इस सन्दर्भ में लिखते है कि "छायावाद ने वस्तुगत सौन्दर्य के सूक्ष्म स्तरों का उद्घाटन करके हिन्दी साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। वस्तुतः प्रकृति अपने आप में सुन्दर नहीं है, उसका सौन्दर्य मनुष्य के लिए है और मनुष्य युग-युग से प्रकृति को अपने तन-मन से सुन्दर बनाता आ रहा है। छायावादी कवियों ने प्रकृति में

छिपे हुए इतने सौन्दर्य स्तरों की खोज की, वह आधुनिक मानव के भौतिक और मानसिक विकास का सूचक है।"[3]

छायावादी कवि मनुष्य के शाश्वत गुणों–सत्य, प्रेम, क्षमा, करुणा, अहिंसा, अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह आदि जागृत करना चाहता है। इसीलिए तो मनुष्य को प्रकृति से भी महान घोषित किया गया है इसी तथ्य की प्रतिष्ठापना के लिए छायावादी कवियों ने व्यक्तिवाद से लेकर विश्वमानवता वाद तक की यात्रा सम्पन्न की है। दलित वर्ग की दीन–हीन स्थिति तथा इस वर्ग के दमन का असली कारण पूँजीवाद, वर्ग–संघर्ष, रूढ़ि–रीति एवं परम्पराएं तथा जाति–पाँति के जंजीरों आदि से छायावादी कवि अवगत हैं और वर्ग हीन समाज की स्थापना के लक्ष्यपर चलते रहे हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने लिखा है कि 'व्यक्ति वादी आदर्शवाद इस युग में आध्यात्मवाद, मानवतावाद, विश्वमानवता वाद, मानववाद आदि अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है। इसका कारण पूँजीवादी लोकतंत्र का स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व का सिद्धान्त था। इसके अनुसार मनुष्य ने सामाजिक बन्धनों से मुक्तिपाने की विविध मार्गो की खोज की। धीरे–धीरे पूँजीवाद की असंगतियों से भी मुक्ति पाने का मार्ग खोजा जाने लगा और जनवाद, समष्टिवाद, साम्यवाद भावनाओं का प्रचार हुआ। छायावादी कविता में 1930 के बाद इन भावनाओं की अधिकाधिक अभिव्यक्ति होने लगी। बढ़ते हुए सामाजिक संघर्ष मनुष्य जाति को स्थिर बैठा नहीं रहने दे सकते। इसीलिए मनुष्य जाति के अग्रचेता चिन्तक कवि सहज ज्ञान द्वारा संसार को समझने की चेष्टा

करते हैं और सामाजिक संघर्षों के मूल कारण वर्ग संघर्ष को मिटाने का प्रयत्न करते हैं। जब तक वर्ग संघर्ष का रूप अधिक तीव्र नहीं हुआ रहता, समाज के सभी वर्गों के उदय, सर्वोदय, विश्वमानवता आदि आदर्शों की स्थापना होती है और जब वह अधिक तीव्र हो जाता है तो बहुजन समाज की विजय और वर्गहीन समाज की स्थापना की कामना की जाती है। छायावादी कविता में ये दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियां दिखलायी पड़ती है।[4]

अतः छायावाद का वास्तविक स्वरूप देखने पर स्पष्ट हो गया है कि छायावादी कविता में दलित-वर्ग का चित्रण पाना असंभव नहीं है। हम साहस के साथ कह सकते हैं कि छायावाद में दलित-वर्ग का केवल चित्रण मात्र नहीं है बल्कि छायावादी कवियों ने वर्ग-संघर्ष रूढ़ियों एवं पुरातनता के प्रति विद्रोह का स्वर गुंजित किया है।

युगीन यथार्थ की अभिव्यक्ति :-

साहित्य और समाज एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। समाज में जो घटित होता है वही साहित्य में चित्रित किया जाता है और साहित्य में चित्रित आदर्शों की लीक पर समाज मार्गरत रहता है। वास्तव में साहित्य का प्रयोजन भी लोकमंगल की कामना है। इसलिए साहित्य मनुष्य से दूर नहीं जा सकता। इस सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ''मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। हमारे

समस्त प्रयत्नों का एक मात्र लक्ष्य यही मनुष्य हैं। उसको वर्तमान दुर्गति से बचाकर भविष्य में अत्यधिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है। यही सत्य है यही-धर्म है''।[5]

छायावादी काव्य में युगीन यथार्थ की जो अभिव्यक्ति हुयी है पूर्णतः स्पष्ट रूप में नही है। इसका कारण यह है कि छायावादी काव्य व्यक्ति प्रधान एवं सूक्ष्मता का विद्रोह भरा काव्य होने से उसमें वैयक्तिक अभिव्यक्ति का ही दर्शन अधिक होता है। छायावादी काव्य की व्यक्ति प्रधानता के संदर्भ में डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि ''छायावादी कविता का विषय व्यक्तिगत अंतरंग जीवन हुआ। छायावाद का कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्तिभाव प्रसाद में आन्दवाद और निराला में अद्वैतवाद में रूप में प्रकट हुआ है। पन्त में उसने आत्मरति का रूप धारण किया और महादेवी वर्मा में परोक्ष रति का जो आत्म रति का ही प्रक्षिप्त रूप है''[6] अतः स्पष्ट है कि छायावाद में तत्कालीन यथार्थ की अभिव्यक्ति समष्टि रूप में न होकर व्यष्टि रूप में हुई है। छायावादी काव्य धारा में युगीन यथार्थ की अभिव्यक्ति का सम्यक विश्लेषण करने के लिए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

राजनीतिक यथार्थ :-

दो महायुद्धों के बीच की काव्य धारा होने के कारण छायावादी युग की राजनीतिक परिस्थिति और उथल पुथल ही मचाने

वाली थी। इसके साथ ही अपने देश में इसी युग में स्वतन्त्रता आन्दोलन अपने पैर जमा रहा था। सत्य अहिंसा और असहयोग वाले अस्त्रों के माध्यम से राष्ट्रपिता महात्मागाँधी जी स्वतन्त्रता का नेतृत्व सम्भाल रहे थे। महात्मा गाँधी द्वारा चलाये गये सविनय अवज्ञा आन्दोलन अहिंसा सिद्धान्त एंव रचनात्मक कार्यक्रम के माध्यम से समाज में राजनीतिक चेतना का उदय हुआ था। भारत का हर नागरिक प्रस्तुत राजनीति आन्दोलन में अपना योगदान देना चाहता था। अतः स्पष्ट है कि तत्कालीन काव्यधारा के कवियों पर भी इस आन्दोलन की जिम्मेदारी आ गयी थी।

कुछ आलोचकों का कहना है कि 'छायावादी कवि तत्कालीन राजनीतिक यथार्थ से उदासीन थे। लेकिन वास्तव में हमें तो ऐसा नहीं दिखायी देता है। इस युग के काव्य में तत्कालीन राजनीतिक यथार्थ का भी बराबर चित्रण हुआ है। विदेशी शासन के विरुद्ध जो आन्दोलन देश में हुए, छायावादी कवि उनसे बेखकर नहीं रहे। उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली में उन आन्दोलनों का समर्थन किया।[7] अतः स्पष्ट है कि छायावादी कवियों ने राजनितिक यथार्थ से मुँह मोड़कर राजनीतिक हलचलों को काव्य के माध्यम से प्रतिबिम्बित किया है। 'इस युग में राष्ट्रीय और राजनीतिक कविताओं का अभाव नहीं है, बल्कि मात्रा में वे पिछले युगों से अधिक ही होंगी। किन्तु जो कुछ भी राष्ट्रवादी कविताएं लिखी गई उनमें तेज, उत्साह, बौद्धिकता और क्रियाशीलता की भावना पहले से बहुत अधिक थी। सत्याग्रह आन्दोलन और कांग्रेस के देशव्यापी संगठन के कारण देश

की जनता और समाज में आत्मिक और नैतिक बल आ गया था। जिससे राजनीतिक हलचलों का प्रतिबिम्ब काव्य में भी पड़ने लगा।'[8]

वास्तव में छायावादी कवि तो स्वतन्त्रता आन्दोलन के सेनानी थे ऐसा कहा जाए तो भी अनुचित न होगा छायावादी काव्य मुक्ति काव्य था। इसलिए डॉ0 नामवर सिंह ने कहा है– 'छायावाद उस राष्ट्रीयजागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था दूसरी और विदेशी पराधीनता से।'[9]

छायावादी कवियों ने राजनीतिक क्रान्ति या बगावत में योगदान देकर स्वतन्त्रता के युद्ध के लिए भारतीय जनता में उत्साह भर देने का काम भी किया है। इससे छायावादी कवियों का देश प्रेम स्पष्ट हो जाता है। छायावादी युग के कवियों में से कुछ ने स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया, सैनिकों को उत्साहित किया और स्वतन्त्रता संग्राम के लिए अपनी वाणी द्वारा वातावरण उत्पन्न करने की चेष्टा की[10] अतः यह कहना अनुचित न होगा कि छायावादी कवि तत्कालीन राजनीतिक यथार्थ से पूरी तरह से जुड़े हुए दिखायी देते है।

सामाजिक एंव आर्थिक यथार्थः–

छायावादी युगीन राजनीतिक परिस्थिति का तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर गहरा प्रभाव रहा है। इस प्रभाव के साथ ही पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का भी भारतीय समाज पर प्रभाव

दिखायी दे रहा था। परिणाम स्वरूप भारतीय समाज के सम्पूर्ण जीवन में एक नवीन परिवर्तन हो गया और जनमानस के विचारों में एक नूतन क्रान्ति ने जन्म पाया। आद्यौगिक प्रगति के कारण भारतीय समाज की आर्थिक स्थिति में भी काफी परिवर्तन हुआ। इसी यथार्थ की पार्श्वभूमि पर छायावादी कवि अपनी व्यक्तिनिष्ठ काव्य धारा को लेकर काव्य सृजन की प्रक्रिया में रत रहे। अतः एक समाज सुधारक की भाँति छायावादी कवियों ने सामाजिक यथार्थ्र को अपने काव्य का विषय बनाया। इसका कारण यह था कि इस समय तक राजनीतिक आन्दोलन और आर्थिक संघर्ष इतने उग्र हो गये थे कि कवि सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से अपने को अलग नहीं रख सकते थे। जीवन पर उसका प्रभाव पड़ रहा था। कवि भी संवेदनशील होने के कारण उन समस्याओं का समाधान अपने ढंग से खोजने लगे।[11]

छायावाद के पूर्व राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के लेखकों ने भी सामाजिक एवं आर्थिक मूल्यों को अपना विषय बनाया था लेकिन छायावादी कवियों का सामाजिक एवं आर्थिक यथार्थ समाज के सूक्ष्म अंग 'व्यक्ति' से सम्बद्ध है। व्यक्ति समाज का अंग होने के कारण सूक्ष्मतम रूप में, व्यष्टि रूप में चित्रित दुख समष्टि रूप ले सकता है। छायावादी कवियों ने समाज में मानव की दीन-हीन, शोषित, पीड़ित एवं दलित स्थिति को देखा और उसीकी प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप काव्य के माध्यम से उसे अभिव्यक्ति दी। डॉ0 शिव कुमार मिश्र के मतानुसार दुख, वेदना तथा अवसाद का चित्रण

छायावादी कविता की दूसरी प्रवृत्ति है जो अपनी परम्परा को स्थिर रखते हुए उस युग की भाँति उस युग की कविता में भी उतनी ही व्यापकता से दीख पडती हैं पिछ्ले युग की भाँति इस युग की यह पीड़ा तथा वेदना भी प्रमुखतः वैयक्तिता से ही सम्बद्ध है तो इसका जन्म वैयक्तिक जीवन में मिलने वाली नाना प्रकार की असफलताओं के फलसवरूप हुआ है या इसे स्थिति विशेष की तत्कालीन प्रतिक्रिया का परिणाम कहा जा सकता है।'[12]

छायावादी कवियों ने साहित्य को व्यक्ति के उदात्तीकरण की साधना मानकर ही व्यक्ति का समाज सापेक्ष चित्रण करने में सफलता पायी है। इस सफलता के लक्ष्य तक पहुँचते समय इन कवियों ने प्रगतिवादी कवियों की भाँति समाज विकास में आने वाली बाधाओं को तोड़कर जन कल्याण और समाज हितैषी तत्वों को जन्म दिया है।[13]

धार्मिक यथार्थ एवं रूढ़ियाँः–

छायावादी युग में धार्मिक यथार्थ अपना रूप बदल रहा था। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं अरविन्द के दर्शनों का प्रभाव तत्कालीन समाज पर था। लेकिन फिर भी धर्म का मिथ्याडंबर एवं रूढ़ियाँ पूरी तरह से समाज–वाह्य नहीं हो सकी थीं। इस विज्ञान युग में भी ढ़ोग पाखण्ड के साथ ईश्वर भक्ति धर्म के नाम पर पनपती रही। छायावादी कवियों

ने इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया कि मानव को ईश्वर से भी श्रेष्ठ घोषित किया और ये कवि अपनी कविता कामिनी के धुन में मस्त होकर मानव की महत्ता के गीत गाने लगे। दलित, शोषित पीड़ित मानव को ईश्वर सदृश्य मान कर उसी की पूजा करने का सन्देश सुनाकर इन कवियों ने भारतीय समाज को मानव सेवा की ओर ले जाने का प्रयास किया। धर्म की ओट में पनपने वाली विकृतियाँ तथा अमानवीय कृत्यों एवं रूढ़ियों पर तीखा प्रहार करते हुए विद्रोह एवं क्रान्ति के माध्यम से छायावादी कवियों ने जाति-पाँति में बिखरे भारतीय समाज को एक संघ बनाने का प्रयास किया। 'छायावादी कवि हर तरह के जाति भेद और देश-भेद के विरुद्ध था।'[14] वह चाहता था कि धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक विषमता से अकड़ा हुआ हर एक भारतीय स्वतन्त्र होकर सुखी, समृद्ध एवं सफल जीवन यापन करने में सक्षम हो जाय। 'इन कवियों ने मानवमात्र अर्थात समस्त मानवता के प्रति अपने असीम प्रेम तथा दृढ़ निष्ठा को सूचित करते हुए, उसकी विजय कामना को तीव्र अभिव्यक्ति देते हुए, उसकी पीड़ा तथा व्यथा की मार्मिकता से उभरते हुए, उससे अपने अखण्ड एकत्व का परिचय दिया है।'[15]

अतः स्पष्ट है कि छायावादी कवि अपने युग एवं दलित मानव के प्रति उदासीन नहीं थे। राजनीतिक सामाजिक आर्थिक एवं धार्मिक दृष्टि से दीन-हीन, शोषित-पीड़ित, दलित-वर्ग, छायावादी कविता का विषय रहा है।

छायावाद में दलित चेतना :-

छायावाद के स्वल्प और युगीन यथार्थ की अभिव्यक्ति का स्वरूप देखने के बाद स्पष्ट हो गया है कि छायावादी कविता अपने युग और दलित मानवता के प्रति उदासीन नहीं थी। इन कवियों ने मानव को अपने काव्य का विषय बनाकर उपेक्षित, शोषित, पीड़ित, दीन-हीन दलित मानव के हृदय की व्यथा को काव्य रूप दिया है। लेकिन एक बात महत्वपूर्ण है कि छायावादी कवि स्पष्ट रूप में मानवतावादी विचार-धारा से सीधे सामाजिक स्वाधीनता की मांग नहीं करते। प्रकृति के माध्यम से छायावादी कवि दलित वर्ग की वेदना पर प्रकाश डालता है। अतः सामाजिक स्वाधीनता और प्राकृतिक मुक्त से छायावादी कवि को प्रकृति का जो नया परिचय प्राप्त हुआ, वह एकदम नूतन जीवन दृष्टि (विजन) के समान मालूम हुआ। छायावादी कवि को ऐसा लगा कि यह आलोक स्वयं प्रकृति से ही आ रहा है।[16] स्पष्ट है कि मानव की ओर देखने का छायावादी कवियों का दृष्टिकोण नवीन सन्दर्भो में निखरा है, जिसे पहचानने के लिए नवीन दृष्टि का होना भी आवश्यक है। जिस तरह छायावादी कवियों ने प्रकृति को मानवी रूप प्रदान करते हुए प्रकृति में ही मानव के सुख दुःखों को खोजा है, उसी तरह उन्होनें समष्टि के प्रति व्यक्ति की महत्ता प्रतिष्ठित की है, वस्तुतः छायावादी कविता का जन्म ही समाज की जड़ नैतिकता के विरूद्ध व्यक्ति के विद्रोह द्वारा हुआ था, फलतः छायावादी कवियों में अपनी वैयक्तिकता के प्रति तीव्र चेतना पायी जाती है। वैयक्तिक सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा आदि के

वर्णनों से छायावादी कविता आद्यान्त पूर्ण है।[17] लेकिन छायावादी कवियों की प्रस्तुत वैयक्तिकता अपनी अभिव्यक्ति करते हुए भी सामाजिक चेतना और सामाजिक भूमि से पूरी तरह जुड़ी हुयी है। अतः इस वैयक्तिकता की सामाजिक भूमि को पहचानने के लिए भी नूतन एवं सामाजिक दृष्टि की आवश्यकता है।

1– वर्णव्यवस्था एवं अस्पृश्यता :–

छायावाद का केन्द्र बिन्दु मानव होने के कारण इन कवियों ने विश्व मानवता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है।'मनुष्य मात्र की चेतना का विस्तार छायावाद को अभीष्ट था। इसकी प्रमुख चिन्ता थी, विश्व मानव के उद्‌भव की। इसी विश्व मानवता को लाने के लिए उसने सर्वात्मवाद और संचेतनवाद का भी आश्रय लिया।'[18] अतः स्पष्ट है कि छायावादी कवि जाति–पाँति के संकुचित दायरे से परे रहकर मानव में एकता प्रस्थापित करते हुए मानव मात्र की विजय कामना के गीत गाते हैं। मानव को चार वर्णो में विभाजित करने वाली प्राचीन वर्ण व्यवस्था के प्रति छायावादी कवि के मन में विद्रोह की भावना भरी हुयी है, क्योंकि इस वर्णव्यवस्था के कारण मानव, मानव से दूर हो जाता है। इस वियोग के कारण मानव जीवन में दुःख आना स्वाभाविक है। छायावादी कवि ऐसे वियोग को ही काव्य का जन्म स्थान मानता है।

वेदों से चली आयी जाति-पाँति की रूढ़ कल्पना एवं वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे धर्म का रूप ग्रहण करती गयी और आगे चलकर शास्त्र तथा दर्शन में भी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई। प्रस्तुत जाति व्यवस्था एवं चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के कारण मानव जाति का भी विभाजन हो गया। छायावादी कवि ऐसी व्यवस्था का त्याग करना चाहता था। इस सन्दर्भ में छायावादी कवियों पर गाँधी विचार-धारा का प्रभाव दिखायी देता है। गांधी जी ने भी मानव के लिए घातक धर्म, दर्शन एवं शास्त्र का त्याग करना आवश्यक समझा था। इसी बात को सामने रखकर छायावादी कवि कहता है-

धर्मनीति, संस्कृति विचार विधि दर्शन,
विविधशास्त्र, बहुयज्ञ नियत व्रत साधन,
शासन पद्धति, चतुर्वर्ण, चतुराश्रम,
अर्पित तुमको गत गुण कर्म विभाजन।[19]

जातिगत रूढ़ि रीतियों का त्याग कर दिये बिना मानव, मानव एक नही हो पायेगा। इस जीवन की ऐसी संकुचित भावना को त्यागकर छायावादी कवियों ने एक नये युग का निर्माण करने की कामना की है। रूढ़ि-रीति जाति-पांति, श्रेणी वर्ग में विभाजित मानव अपनी मनुष्यता खो बैठता है। न्याय नीति, देश राष्ट्र निर्धन-भूपति से भी मानव महान है। उसकी महत्ता की प्रतिष्ठापना के लिए छायावादी कवि पुरातनता का त्याग कर नवयुग के अवतरण की कामना करता है।-

"रूढ़ि रीति, न्याय नीति,
बैर प्रीति ईति भीति,
क्षुधा तृषा, सत्य भृषा,
लज्जा, भय, रोष विनय,
राग, द्वेष, हर्ष क्लेश,
प्रलयंकार नृत्य करो
जीवन जड़ सिन्धु तरो।
देश राष्ट्र, लोह काण्ट,
श्रेणि वर्ग नरक स्वर्ग,
जाति-पांति, वंश ख्याति
धनी निर्धन, भूपति जन,
आत्मा मन, वाणी तन
अभयंकार नृत्य करो,
नवयुग को अखिल बरो।"[20]

यह सत्य है कि नव निर्माण में अनेकों समस्याएं आ सकती हैं। जाति-पाँति की दीवारें हिलाते समय सवर्णो का विरोध हो जाना स्वाभाविक ही है। लेकिन छायावादी कवि ऐसे विरोधों से भी लोहा मोल लेते हैं। छायावाद के चार स्तम्भों में से एक निराला जी ने खुद ब्राह्मण जाति के होते हुए भी जाति की कटु आलोचना की हैं चार स्तरों में विभाजित वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया था तो शूद्रों को पदरज से भी नगण्य माना गया था। अतः निराला जी ने ब्राह्मण जाति को त्याज्य घोषित करते हुए कहा-

ये कान्य कुब्ज-कुल कुलांगार,

खाकर पत्तल में करें छेद,

इनके कर कन्या, अर्थ खेद

इस विषयवेलि में विष ही फल,

यह दग्ध मरूस्थल नहीं सुजल।[21]

वास्तव में सामाजिक आवश्यकता के रूप में ही वर्णव्यवस्था का जन्म हुआ था, लेकिन उसका विकृत रूप जाति व्यवस्था में बदलकर आज तक मानव समाज का पीछा करता आया है। इस सन्दर्भ में छायावादी कवि पूर्णतः सजग थे। प्रसाद जी ने एक जगह वर्णव्यवस्था की विकृति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है- 'वर्णभेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना, परन्तु द्वेष की दृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा, गुण-कर्मानुसार वर्णो की स्थिति नष्ट होकर अभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गयी।'[22] इसी जाति प्रथा से उत्पन्न समस्या है अस्पृश्यता। अस्पृश्यता का प्रश्न इस युग में एक राजनैतिक प्रश्न बन गया परन्तु मूलतः वह प्रश्न धार्मिक है क्योंकि हरिजनों की वर्तमान दुर्दशा का कारण धर्म के उस विकृत रूप में निहित है जो समाज की अवनतावस्था में उसे प्राप्त हो गया था।[23] अतः स्पष्ट है कि वर्णव्यवस्था ने विकृत रूप ग्रहण करके मानव को दलित बनाया।

महात्मा गाँधी ने अस्पृश्यतों को हरिजन (हरि के

जन) कह कर सम्मानित किया। गांधी जी के अस्पृश्यता द्वारा सम्बन्धी विचारों का छायावादी कवियों पर बहुत अधिक प्रभाव दिखायी देता है। संस्कृति एवं रूढ़ियों की विकृत जंजीरों में जकड़े हुए अस्पृश्यों को महात्मा गांधी जी ने मुक्ति दिलाने का प्रयास किया। महात्मा गाँधी जी के कार्य का उल्लेख करते हुए छायावादी गौरव के साथ कहता है–

'जन पीड़ित अछूतों से प्रभूत
छू अमृत स्पर्श से, हे अछूत।
तूमने पावन कर, मुक्त किये,
मृत संस्कृतियों के विकृत भूत।'[24]

वर्ण–व्यवस्था एवं जाति प्रथा के इस विकृत भूत को भगाने के लिए और जाति विहीन समाज का निर्माण करने के लिए छायावादी कवि अनेक प्रकार के उपाय बताता है। जाति के कर पाश को जड़ों से उखाड़ कर मिट्टी में मिलाने के लिए आवश्यक है कि अन्तरजातीय विवाह सम्पन्न किये जायें। ये कवि कोमल कल्पना विलासी होते हुए भी जाति प्रथा जैसी कुरीति की जड़ों पर आघात करते हैं। इन कवियों ने प्रेम के माध्यम से भी जाति व्यवस्था के महल को हिला दिया है–

'दोनों हम भिन्न वर्ण
भिन्न जाति भिन्न रूप
भिन्न–धर्म–भाव, पर
केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे।'[25]

स्वतंत्रता पूर्व भारत का अस्पृश्य हरिजन देश स्वतन्त्र हो जाने पर अपनी इस पीड़ा से मुक्ति की आशा बनाए रहा था। उसकी अभिलाषा थी कि देश स्वतन्त्र हो जाने पर गाँव मुक्त हो जायेगा और गांव की मुक्ति के साथ ही अस्पृश्यता की जंजीरों से उसकी भी मुक्ति हो जायेगी। लेकिन यह बात महत्व पूर्ण है कि स्वतन्त्रता के बाद अस्पृश्यों, शोषितों ने क्या पाया? अस्पृश्य तो अस्पृश्य ही रह गया। आशा तो थी कि राष्ट्रीयता के धागे में बंधकर देश की जनता एक हो जायेगी। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं हो पाया। स्वातन्त्र्योत्तर काल में भी अस्पृश्य की दयनीय में कुछ खास परिवर्तन नहीं आया। दलित मानव की इस घोर निराशा को देखकर छायावादी कवि भी निराश होकर अपनी निराशा को कविता के माध यम से व्यक्त करता है–

'गत जाति वर्ग प्रान्तों में
बंट रहा भग्न भू खण्डहर।
जन मन को बांध न पाता
राष्ट्रीयता का आकर्षक
ऐसा कुछ कहीं नहीं जो
फूंके जन में नव जीवन।'[26]

अतः स्पष्ट है कि स्वातन्त्र्योत्तर काल में दलित मानव की स्थिति दयनीय ही होती गयी और उसे सवर्णो की उपेक्षा एवं शोषण का शिकार बन कर ही पीड़ा से भरा जीवन व्यतीत करना पड़ा।

अस्पृश्यों को उपेक्षित मानकर समाज में उनकी होने वाली अवहेलना को देखकर छायावादी लेखकों का हृदय पसीजता है। छुआछूत की कुरीति के कारण अस्पृश्यों को मानव विकास के सभी साधनों से वंचित होना पड़ा। अस्पृश्यों को मन्दिरों में प्रवेश नहीं दिया जाता है। इतना ही नही अपितु उच्च वर्गीय लोगों का दावा है कि अस्पृश्यों को ज्ञानार्जन करने का भी अधिकार नहीं है। अतः अनादि काल से अँस्पृश्य अज्ञान एवं अविद्या के अंधकार में अपना दुःख पूर्ण जीवन व्यतीत करते रहे।

छायावादी कवि डॉ0 रामकुमार वर्मा ने शूद्रों एवं अस्पृश्यों की उपेक्षा का चित्रण करने हेतु ही 'एकलव्य' महाकाव्य की रचना की है। प्रस्तुत महाकाव्य का नायक एकलव्य शूद्र है। उनके निषाद जाति का होने के कारण दोणाचार्य उसे धनुर्विद्या की शिक्षा देने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। एकलव्य निराश होकर जंगल में चला जाता है और वहाँ गुरु द्रोण की प्रतिमा बनाकर उसी प्रतिमा से आज्ञा लेकर शर-संधान करता है। इसी प्राचीन कथा के माध्यम से वर्मा जी ने उपेक्षित शूद्रों एवं अस्पृश्यों की दयनीयता का चित्रण किया है।

महाभारत कालीन शूद्र भी विद्या एवं ज्ञानार्जन से वंचित रखे जाते थे। डॉ0 रामकुमार वर्मा जी ने 'एकलव्य' के माध्यम से वर्ण-व्यवस्था एवं जाति की दीवारों को हिला दिया है। जिस तरह सूर्य किरण, अग्नि एवं वायु किसी विशिष्ट जाति के लिए सीमित नहीं होते उसी तरह विद्यार्जन का अधिकार भी किसी विशिष्ट जाति के लिए

सीमित नहीं हो सकता। इसीलिए कवि कहता है-

"जाति-भेद नहीं, वर्ग वंश भेद भी नही,
शिक्षा प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं।
सूर्य की किरण भी क्या जाति भेद मानती ?
अग्नि क्या विशेष जीवधारियों की श्रेणी में-
सीमित है ? और वायु की तरंग उठती
केवल विशिष्ट व्यक्तियों को सांस देने में ?"[27]

विद्या से वंचित दलित मानव के मन में क्रान्ति की चिनगारी पूछते हुए वर्मा जी लिखते हैं -

"हमने सहन की है वर्ग की विगर्हणा
शूद्र कहलाते रहे सेवा भाव मान के।
किन्तु मानव को जब विद्या का निषेध हो
बात क्या नहीं क्रान्तिकारी बन जाने की।"[28]

अतः स्पष्ट है कि डॉ0 वर्मा जी ने मार्क्स और गांधी की विचारधाराओं से प्रेरणा लेकर दलित वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में 'एकलव्य' की सृष्टि की है।

प्राचीन समाज जिस तरह वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-पाँति में विभाजित हो गया उसी तरह आधुनिक युग में वर्ग व्यवस्था में मानव का विभाजन हो गया है।

वर्ण-व्यवस्था में प्रारम्भ से ही शूद्र अन्य वर्णों द्वारा बहिष्कृत किये गये और सवर्णों द्वारा संगठित रूप में शूद्रों का शोषण होता रहा है। अतः स्पष्ट है कि दलित मानव का बहिष्कार एवं शोषण

आधुनिक युग की देन नहीं है। बल्कि यह बहिष्कार और शोषण अनादि काल से दलित मानव के जीवन से जोंक के समान चिपका हुआ है। शोषण के कारण दलित मानव का विकास नहीं हो पाया। पूरा मानव समाज ही अमीर और गरीब तथा शोषक और शोषित इन दो वर्गों में विभाजित हो गया है।

सवर्णो द्वारा शूद्रों, अस्पृश्यों एवं हरिजनों की अवहेलना की कोई सीमा न रहने के कारण उनका जीवन पशु से भी गया गुजरा लगता है तथा उनकी मानवता ही समाप्त हो जाती है। दलितों की इस दयनीय स्थिति का भयावह रूप देहातों में अधिक रहता है। निकृष्ट रूढ़ियों एवं परम्पराओं को देहातों में ही सुरक्षा मिलती है। शूद्रों, अस्पृश्यों एवं हरिजनों की अवहेलना सवर्णो ने ही की है। निराला जी ब्राह्मणों को दोषी ठहराते हुए कहते हैं कि शूद्रों के पतन की असली जड़ है ब्राह्मण जाति–

'एक दिन ब्राह्मणों ने
हमें पतित किया था
शूद्र कहलाये हम'[29]

आगे चलकर सवर्णो ने संस्कृति की आड़ में जाति व्यवस्था को जन्म दिया और देश में जाति–पाँति का दीवार खड़ी हो गयी। छायावादी कवि चाहता है कि दलितों पर होने वाले अत्याचार समाप्त हो जायें और उसके जीवन की परिभाषा में परिवर्तन आकरउसका जीवन सुखी और सम्पन्न हो जाए। क्योंकि शूद्र, अस्पृश्य एवं अन्त्यज तथा हरिजन इसी समाज के सुनागरिक हैं,

उन्हें सम्मान से जीने का अधिकार देना हमारा फर्ज है। उनकों अपने समान स्वाधीन करना हमारा सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक कर्तव्य है।

2- किसानों की असहायता का चित्रण :-

दो महायुद्धों के बीच का युग छायावाद का युग है। स्पष्ट है कि इन दो महायुद्धों का प्रभाव छायावाद पर दिखायी देता है। विश्व भर में महायुद्धों का प्रभाव फैल चुका था। अतः "संसार एक भीषण मन्दी की चपेट में आ गया था और भारतीय कृषक की दशा बहुत खराब हो गयी थी, कृषि उत्पादित वस्तुओं के भाव बहुत गिर गये। सन् 1929-30 से लेकर 1934-35 तक यह दौर उसी तेजी से रहा 'डायरेक्टर जनरल आफ कामर्शियल इन्टेलीजन्स एण्ड स्टेटिस्टिक्स' के द्वारा प्रकाशित आंकड़ो के अनुसार कृषि वस्तुओं के दाम औसत मूल्यों के अनुसार 1928-29 में दस अरब तिहत्तर करोड़ रुपये रह गये। किसानों ने लगान और सिंचाई अपनी बचत से चुकाया और 1931-37 के बीच में लगभग 24 करोड़ पौण्ड का सोना भारत से इंग्लैण्ड चला गया।"[30] इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में भारतीय किसान की स्थिति असहाय हो गयी थी। छायावादी कवि किसानों की इस स्थिति के प्रति जागरूक था अपनी सूक्ष्म अभिव्यक्ति के माध्यम से। भारतीय किसानों का समस्या भरा जीवन-पट छायावादी कवि के सम्मुख स्पष्ट था और उसके प्रति अपने दायित्व से वह पूर्ण रूपेण परिचित था। अतः छायावादी कवियों

ने किसान के प्रति अपने कर्तव्य को केवल पहचाना ही नहीं बल्कि किसानों की समस्या को इस मार्मिक ढंग से अभिव्यक्ति दी है उसका प्रभाव पाठक के मानस पटल पर चिरस्थायी रहता है। निराला ने किसान की असहायता का चित्रण करते हुए लिखा है-

सूख गया किसान एकाकी
रोया, रहा न लेखा बाकी,
कर्म धर्म को करके साखी,
दूहरी डगर भरी, शीत की।[31]

भारतीय किसान को अनेकों समस्याओं का मुकाबला करना पड़ता है। अन्न वस्त्र एवं आवास की समस्याएं किसान को घेर लेती है। किसान का घर याने एक छोटी सी कुटी होता है और उस पर भी अन्धकार अपना साम्राज्य स्थापित कर लेता है। मूलतः किसान का जीवन ऋण से लदा हुआ रहता है। दैन्य, दुःख एवं दुर्भाग्य के कारण उसका जीवन गतिहीन हो जाता है। पैतृक सम्पत्ति के रूप में थोड़ी सी जमीन होती है, उसी के बल पर वह अपने जीवन में अनेकों सपने देखता है। लेकिन उसका एक भी सपना पूरा नहीं बन पाता। पन्त जी ने कृषक के इस दुःख पूर्ण जीवन का चित्रण बहुत ही हृदय स्पर्शी रूप में किया है-

'कर जर्जर, ऋणग्रस्त, स्वल्प पैतृक स्मृति भूधन,
निखिल दैन्य, दुर्भाग्य, दुरित, दुःख का जो कारण
विश्व विवर्तनशील, अपरिवर्तित वह निश्चल,
वही सेत, गृह द्वार, वही वृष, हँसिया और हल।'[32]

किसानों के जीवन में शुरू से ही इस प्रकार का दुःख रहता है तो दूसरी ओर प्राकृतिक विपत्तियों की भी कमी नहीं रहती। भारतीय किसान पूरी तरह से प्रकृति पर निर्भर रहता है। उसे अनेकों बार सूखा और ओले का मुकाबला करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में किसान लगान कहाँ से चुका पायेगा। सूखे के दिनों में बरसात के लिए चातक के समान तरसने वाले किसान का चित्रण करते हुए निराला जी ने लिख है –

"जीर्ण बाहु, है शीर्ण–शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर
चूस लिया है उसका सार,
हाड़मात्र ही हैं आधार,
ऐ जीवन के पारा बार।"[33]

अतः स्पष्ट है कि छायावादी कवियों ने भारतीय किसान की दलित स्थिति का बड़ी सफलता के साथ चित्रण किया है। दर्द, पीड़ा, वेदना, शोषण तथा असहायता से भरा किसान का जीवन–पट पाठकों के सम्मुख खड़ा करने में छायावादी कवि सफल सिद्ध हुआ है।

दो महायुद्धों का प्रभाव एवं भीषण मन्दी से भारतीय कृषकों की स्थिति तो दयनीय हो गयी, लेकिन उसके साथ ही भूमिहीन कृषकों की संख्या बढ़ गयी क्योंकि जमीन ऋण व्यवसाय करने वाले साहूकारों के हाथों में पहुँच गयी। 1921 की जनगणना

के अनुसार ऐसे भूमिहीन कृषकों की संख्या दो करोड़ दस लाख थी। 1931 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार यह संख्या बढ़कर तीन करोड़ तीस लाख हो गयी। कृषि न करने वाले भूमिपति इसी दशक में सैंतीस लाख से बढ़कर इकतालिस लाख हो गये।"[34] छायावाद युगीन इन तीन चार करोड़ भूमिहीन किसानों की दुर्दशा का चित्रण भी छायावादी कविता में दिखायी देता है। भूमिहीन किसान जमींदार के हाथ का मात्र खिलौना बन गया था। ऐस स्थिति में भूमिहीन किसान का दर्द भरा यथार्थ चित्रण कवि निराला जी ने बड़ी सफलता के साथ किया है–

"आम बीन–बीन कर
पंजों बाटते हुए
आमों के हिस्सेदार
गांव–गांव के किसान।
खाने को एक–एक हिस्सा लिए हुए
जमींदार लोगों से।"[35]

कृषि–श्रमिक अपना खून पसीना एक करके तन तोड़कर मेहनत करता है और उसके श्रम पर ही मानव जीवन निर्भर रहता है। लेकिन भूमिहीन किसान की तरह ही इस युग में कृषि–श्रमिक की भी स्थिति दयनीय थी। मन्दी के कारण अधिक मजदूरी मिल नहीं सकती थी। जो मजदूरी मिलती थी उसको प्राप्त करने के लिए उसे अविरत परिश्रम करना पड़ता था, जिसकी कोई सीमा नहीं थी–

'जो कठिन हलों की नोंकों से
अविराम लिख रहे धरती पर।
जो उपजाते फल, फूल, अन्न,
जिन पर मानव जीवन निर्भर।'[36]

श्रमिक किसान अपने अविरत परिश्रम से अपने पसीने से सींचकर धरती से मोती निकालता है, लेकिन जो भी पैदावार होती है उस पर मजदूर श्रमिक किसान का कोई भी अधिकार नहीं रहता। जमींदारों की गलियां सहते हुए अविरत परिश्रम करने वाले कृषि श्रमिकों को अपने भविष्य की चिन्ता लगी रहती है। अपना भी जीवन उपवन कभी खिल उठेगा इसलिए वह आशा लगाये रहता है।

किसानों का खून चूसकर अपनी तिजोरियाँ भरने वाले पूँजीपति जमींदार दिन ब दिन अपनी शोषण नीति को बढ़ा ही रहे थे। छायावादी युग में तो किसानों के शोषण की कोई सीमा ही नही रही थी। जमींदारों से लेकर उनके सिपाहियों तक सभी मिलकर किसानों का शोषण करते थे। शोषण के कारण निर्मित वैषम्य को देखकर छायावादी कवि किसानों को संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए लड़नें का सन्देश भी देता है। निराला जी द्वारा लिखित कविता "कुत्ता भौंकने लगा" पूरी तरह से जमींदारों की शोषण नीति पर लिखी हुई है। इस कविता में किसान की दयनीय स्थिति का यथार्थ चित्र मार्मिक संवेदना के साथ अंकित किया गया है। दीन हीन स्थिति में रहने वाला किसान जो जीवन व्यतीत करता है, उसका

परिचय मिलता है इन पंक्तियों में –

> "जमींदार का सिपाही लट्ठ कन्धे पर डाले
> आया और लोगों की ओर देखकर कहा
> डेरे पर थानेदार आये हैं;
> डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है,
> एक हफ्ते के अन्दर देना है।
> चलो बात दे आओ।"[37]

जिस गरीब किसान को दो वक्त की रोटी भी नसीब नही होती वह चन्दा क्या दे पायेगा ? लेकिन जमींदार एवं उनके सिपाही टस से मस नही होते। गरीब किसान पर उन्हें थोड़ी भी दया नहीं आती।

अतः स्पष्ट है कि छायावादी युग के किसान का जीवन पूर्णतः संघर्षमय था। एक ओर उसे भीषण मन्दी की चपेट में गिरना पड़ा तो दूसरी ओर जमींदारों की शोषण नीति का शिकार बनना पड़ा। छायावादी कवियों ने भी अपने युग के किसान की अवहेलना का सजगता के साथ चित्रण किया है। छायावाद के प्रमुख कवि पन्त, प्रसाद, महादेवी एवं निराला सभी की कृतियों में किसानों की अवहेलना का चित्रण नहीं मिलता लेकिन पंत और निराला की कविताओं में यह यथार्थ चित्रण अत्यधिक सफलता के साथ हुआ है। इसका कारण यह है कि पन्त और निराला ने देहात के जीवन की व्यथा को अनुभूत ही किया था। इसी कारण उनके द्वारा चित्रित किसानों के व्यथापूर्ण जीवन को पाठक भी भुलाए नहीं भूलता।

3- मजदूरों की असहायता का चित्रण :-

छायावाद युग की औद्योगिक परिस्थिति का अध्ययन करने पर पता चलता है कि दो महायुद्धों के कारण उद्योग क्षेत्र में भी मन्दी आ गयी थी। अंग्रेजी सरकार द्वारा 'मुक्तद्वार' नीति के स्थान पर 'संरक्षण' की नीति को अपनाने के कारण ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत में पूँजी लगाकर अनेकों कारखाने स्थापित किये, महायुद्धों के परिणाम स्वरूप बढ़े हुये दामों के कारण पूँजीपतियों को अधिक लाभ हुआ। लेकिन जिन मजदूरों के पसीने के बल पर वस्तुओं का निर्माण हुआ था, उन मजदूरों को पूँजीपतियों की ओर ताकते ही रहना पड़ा। अतः स्पष्ट है कि इस युग में भीषण मनदी का प्रभाव उद्योग पर भी पड़ा। उद्योग के द्वारा जीवको पार्जन करने वाली जनसंख्या (मजदूरों की संख्या) में बहुत कमी हो गयी। 1911 और 1931 के बीच उद्योगों में काम करने वालों की संख्या में 12 प्रतिशत की गिरावट आयी। इस प्रकार औद्योगिक दृष्टि से यह काल सम्राज्य शाही के लोभग्रस्त दृष्टिकोण और उसके दुष्परिणामों को हमारे सामने रखता है। विदेशी शोषकों की घातक आर्थिक नीति एक ओर भारतीय जनता का निर्मम शोषण करके और दूसरी ओर देश के आर्थिक विकास का "गतिरोध" के दलदल से निकलने दे कर हर प्रकार से अपनी सर्वनाशी प्रवृत्तियों का निर्लज्जता पूर्ण प्रदर्शन कर रही थी।"[38] अतः स्पष्ट है कि छायावादी युग में वैज्ञानिक प्रगति के साथ औद्योगिक प्रगति भी हो रही थी लेकिन उद्योग समूह में काम करने वाले मजदूरों की स्थिति दयनीय थी। इलाहाबाद के पथ पर

पत्थर तोड़ने वाली मजदूरनी का जो चित्र निराला जी ने प्रस्तुत किया है वह बहुत ही हृदय स्पर्शी है। चिलचिलाती धूप में बैठकर हथौड़े का बार–बार प्रहार करती हुई वह अपने काम में मग्न है। "सामने तरुमालिका अट्टालिका प्राकार" लिखकर निराला जी ने वर्ग–संघर्ष को भी स्पष्ट किया है–

"नही छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुयी स्वीकार;
श्याम तन, भर बंधा यौवन,
नत नयन, प्रिय–कर्म रत मन,
गुरू हथौड़ा हाथ,
करती बार–बार प्रहार"[31]

अविरत श्रम करने वाले मजदूरों की असहायता को देखकर सवाल यह उपस्थिति हो ता है कि आखिर मजदूर तन तोड़कर, पसीना बहाकर इतनी सारी मेहनत क्यों करता है? भौतिक सुख सुविधाओं के लिए? जी नहीं भौतिक सुविधाओं का निर्माण करने वाला मजदूर भौतिक सुख सुविधाओं से तो दूर रहता ही है बल्कि उसके साथ ही जीवन की प्राथमिक आवश्यकतायें रोटी, कपड़ा और मकान भी वह प्राप्त नहीं कर पाता। पेट की जलती आग बुझाने के लिए कारखानों में जाकर अनेकों मजदूर पिसते रहते हैं। असहाय मजदूरों को देखकर प्रसाद जी के मन में करूणा की चिनगारी प्रज्जवलित हो उठती है। दीन दुखियों की सेवा करना प्रसाद जी मानव का फर्ज मानते हैं तथा अविरत श्रम से थके हुए मजदूरों का पसीना

पोंछने का आवाहन करते हैं-

"दीन दुखियों को देख आतुर अधीर अति,
करुणा के साथ उनके भी कभी रोते चलो,
थके श्रमजीवियों के पसीने भरे सीने लग
जीने को सफल करने के लिए सोते चलो।"[40]

इस युग के मजदूरों की आर्थिक दशा भी बहुत ही दयनीय हो गयी थी। पूँजीपतियों के पैरों तले मजदूर कुचलने के कारण असहाय बन चुका था।

अपने श्रम के बल पर विश्व को समृद्ध बनाने वाला मजदूर आर्थिक दृष्टि से इतना विपन्न हो गया था कि उसका जीवन पशु सदृश्य हो गया था। अन्न वस्त्र एवं आवास जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उनके पास धन नहीं रहता था। ऐसे दीन, दुखी, दलित मजदूर का वर्णन पंत जी ने अपनी 'श्रमजीवी' कविता में बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से किया है-

"भूख प्यास से पीड़ित, उसकी भद्दी आकृति
स्पष्ट कथा कहती,- कैसी इस युग की संस्कृति।
वह पशु से भी घृणित मनुज-मानव की ही कृति।
जिसके श्रम से सिंची समुद्रों की पृथु संपति।"[41]

एक ओर मजदूरों की आर्थिक दशा गिरती ही गयी तो दूसरी ओर उनके पसीने से कमाये हुये धन के बल पर पूँजीपतियों की आर्थिक सम्पन्नता बढ़ती गयी। पूँजीपति तो मजदूरों का धन छीनकर ही अपने महल खड़े करते हैं लेकिन इधर मजदूर निर्धनतम

होता जाता है।

छायावादी युग के मजदूरों की आर्थिक दशा में इतनी गिरावट आने का कारण है तत्कालीन ब्रिटिश एवं भारतीय पूँजीपतियों की शोषण नीति। इस शोषण नीति के कारण ही मजदूर और मालिक श्रमजीवी और पूंजीपति के बीच एक बड़ी खाई निर्मित हो गयी। स्पष्ट रूप में शोषक और शोषित के दो वर्गों का निर्माण हुआ। इसी वर्ग संघर्ष को विषय बनाकर 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक रचना निराला जी की प्रगतिशीलता का परिचय देती है। इस कविता में कवि ने 'गुलाब' को सामंती मनोवृत्ति का और कुकुरमुत्ता को सर्वहारा वर्ग का प्रतीक बनाया है। शोषण नीति के बारे में गुलाब और कुकुरमुत्ता की बहस हो रही है-

'तू है नकली, मैं हूँ मौलिक
तू है बकरा, मैं हूँ कौलिक
तू रंगा और मैं धुला
पानी मैं तू बुलबुला
तूने दुनिया को बिगाड़ा
तूने रोटी छीन ली जनखा बनाकर
एक की दी तीन मैनें गुन सुनाकर।'[42]

कुकुरमुत्ता की ही तरह इस युग का मजदूर भी शोषण का शिकार बना है। ऐसे शोषितों के मन में कवि क्रान्ति की चिन्गारी फूँकना चाहता है। अपनी सुरक्षा एवं अधिकारों की मांग के लिए कुकुरमुत्ता विद्रोही स्वर में कहता है-

"अबे सुन वे गुलाब,
भूल मत जो पायी खुशबू, रंगोआब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा है केपिटलिस्ट।
कितनों को तूने बनाया है गुलाम।"[43]

अतः निराला जी की 'कुकुरमुत्ता' कविता केवल साम्यवादी वर्ग सिद्धान्त के पोषण की ही कविता नहीं बल्कि मजदूर तथा जनसामान्य के प्रति गहरी निष्ठा का फल है।

अतः स्पष्ट है कि छायावादी कवियों ने मजदूरों की असहायता का चित्रण सजगता के साथ किया है। प्रकृतियों एवं रहस्यवादी इन कवियों द्वारा भी दलित मानव को एवं वर्ग-संघर्ष को अपने काव्य का विषय बनाने का कारण था छायावादी युग में ही मार्क्सवादी विचारधारा का भी महत्व प्राप्त करना। पूँजीपति और मजदूरों के बीच वर्ग-संघर्ष हो चुके थे और देश की जनता मजदूर वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने लगी थी। इस वातावरण का तत्कालीन कवियों के संवेदनशील हृदय पर प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप कवियों ने सामाजिक विषमता एवं वर्ग-संघर्ष की भावना सफलता के साथ अभिव्यक्त की है।

इस सन्दर्भ में शम्भू नाथ सिंह लिखते हैं कि- "सामाजिक वैषम्य और बहुजन समाज की हीन दशा का संवेदनशील कवियों पर प्रभाव पड़ा कि उनकी कल्पना के रंगीन पंख जल गये और उन्हें विवश होकर इस धरती पर उतरना पड़ा। इस प्रकार कवि

आदर्शवाद से हटकर सामाजिक यथार्थ की ओर मुड़े।"[44] यही कारण है कि छायावाद में मजदूरों की असहायता का यथार्थ चित्रण कवि को करना पड़ा।

4. अन्न, वस्त्र एवं आवास की समस्या :-

छायावादी कवि अपने युग में तमाम समस्याओं के प्रति जागरुक थे। अन्न वस्त्र एवं आवास की समस्या का चित्रण भी छायावादी काव्य में यत्रतत्र पाया जाता है। इस युग में अन्न वस्त्र एवं आवास की समस्याओं में वृद्धि का प्रमुख कारण था बार-बार पड़ने वाले अकाल। इस युग का दलित मानव सभी प्रकार की समस्याओं से जकड़ा हुआ था। लेकिन सभी समस्याओं में से महत्वपूर्ण है अन्न, वस्त्र एवं आवास की समस्या।

"भूखे भजन न होए गोपाला" के अनुसार यदि मनुष्य के रहने के लिए घर न हो, लज्जा रक्षणार्थ पहनने के लिऐ वस्त्र न हो तो ऐसी स्थिति में दलित मानव के सम्मुख किसी भी सुन्दरता का मूल्य शून्य हो जाना स्वाभाविक है। ग्राम जीवन की समस्या का चित्रण करते हुए पंत जी ने इसी बात पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है -

"यहाँ धरा का मुख कुरुप है
कुत्सित गर्हित जन का जीवन
सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन ?"[45]

ऐसी स्थिति में दलित दुखी मानव में सभ्यता और संस्कृति को ढूँढ़ना बेकार है। कवि को जब सभी ओर यही स्थिति नजर आती है तो वह "मानव लोक" को 'नरक' कहता है। वास्तव में पंत जी ने चतुर चितरे की तरह "ग्रामचित्र" अंकित किया है। इस युग का दलित मानव रुढ़ियों का गुलाम होने के कारण जीते जी जिसे पहनने को फटे पुराने कपड़े न मिले उसकी लाश को नया कफन पहनाने के लिये बाध्य हो जाता है। यह पाखण्ड एवं कुरीति इस युग के कवि को मंजूर नही है। 'ताज' कविता में कवि वर पंत जी ने इसी यथार्थ का पर्दाफाश किया है–

"हाय! मृत्यु का ऐसा अमर, पार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन।
स्फटिक सौंध में हो श्रृंगार मरण का शोभन,
नग्न क्षुधातुर, वासविहीन रहे जीवित जन ?"[46]

छायावादी कवि के मतानुसार मानव समाज की इस दयनीय स्थिति का कारण है सामाजिक विषमता। महल और झोपड़ी में जब तक सुसंवाद नहीं होगा, इन दोनों का जब तक मेल नहीं होगा तब तक यह अन्न, वस्त्र एवं आवास की समस्या बनी ही रहेगी। छायावादी युग में स्वतन्त्रता आन्दोलन प्रबल हुआ था। भूखे, प्यासे, नंगे जन इस आन्दोलन में योगदान दे रहे थे। आशा थी कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद खाने के लिए रोटी, पहनने के लिए कपड़ा एवं रहने के लिए मकान की मांग करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। लेकिन क्या स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उनकी यह आशा पूरी हो सकी?

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में भी दलित मानव को अन्न, वस्त्र, एवं आवास की समस्या ने घेर लिया है। इसका कारण क्या हो सकता है? छायावादी कवि के मतानुसार भारतीय जनता में फैला हुआ अविद्या का अंधकार जब तक दूर नहीं होगा तब तक दरिद्रता बनी रहेगी।

5- नारी चित्रण :-

छायावादी युग सभी क्षेत्रों में आन्दोलन का युग था। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं स्वतन्त्रता सम्बन्धी आन्दोलन इसी युग में तीव्र गति प्राप्त कर पाये। नारी मुक्ति आन्दोलन भी इस युग की एक महत्वपूर्ण देन है। नारी मुक्ति के सन्दर्भ में इस युग में विभिन्न स्तरों पर आन्दोलन छिड़ गयें। जैसे वर कन्या विक्रय विरोधी आन्दोलन, वेश्याप्रथा विरोधी आन्दोलन, नारी के प्रति दुर्व्यवहार विरोधी आन्दोलन, बाल-विवाह अनमेल-विवाह तथा बहु-विवाह विरोधी आन्दोलन एक विधवा विवाह समर्थक आन्दोलन। अतः स्पष्ट है कि इस युग में सभी बन्धनों से मुक्त नारी को देखने के लिये समाज सुधारक कार्यरत थे।

इस युग के नारी मुक्ति आन्दोलन में छायावादी कवियों ने भी अपना योगदान दिया। नारी चित्रण छायावादी कविता का प्रधान विषय रहा है। इस सन्दर्भ में आलोचक डॉ0 नामवर सिंह ने लिखा है "कि प्रकृति की भांति ही छायावादी नारी की भी प्रधानता दिखायी पड़ती है यहाँ तक कि छायावाद के विरोधी बहुत दिनों तक छायावाद को स्त्रैण काव्य कहते रहे। छायावाद के पूर्ववर्ती काव्य में

नारी सम्बन्धी रचनाएं न हो ऐसा तो नहीं है, किन्तु वे रचनायें पुरूष प्रधानता की द्योतक हैं।"[47] पूर्ववर्ती युग में चित्रित नारी केवल पराजित नारी के रूप में ही चित्रित की गयी है। उसकी मुक्ति की कामना एवं उसकी पीड़ा का यथार्थ चित्रण छायावाद में ही पाया जाता है। महादेवी वर्मा जी के मतानुसार "यथार्थ के पास दलित वर्ग को छोड़कर जो एक और चिन्तन विषय रह जाता है वह है नारी। पिछला युग इसे बादल, तारे संध्या के रंग आदि में छिपा आया था, अतः यथार्थ ने छायाग्राही बनकर उसे धूल में खींच ही नहीं लिया, वरन् वह जीवन के सब स्तर दूर करके उसके कंकाल की नाप जोख करना चाहता है। इस स्थिति का परिणाम समझने के लिए मानव को, जीवन की पृष्ठभूमि पर देखना होगा।"[48] अतः स्पष्ट है कि छायावादी कवियों ने नारी के यथार्थ चित्र उपस्थित करके वास्तव में नारी को जीवन की ठोस भूमि पर देखा है। इसीलिए प्रसाद जी ने 'कामायनी' में नारी का चित्रण महाप्राण शक्ति के रूप में किया है। नारी को श्रद्धा मानकर प्रसाद जी ने लिखा है-

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।"[49]

अतः स्पष्ट है कि इस युग में उपेक्षित नारी को छायावादी कवियों ने अपनी कल्पना के माध्यम से ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। जीवन में पुरूष से भी महत्वपूर्ण स्थान नारी को देकर इन कवियों ने उपेक्षित नारी को सम्मानित किया है।

आज तक नारी को केवल उपभोग की वस्तु के रूप में ही देखा गया है। पुरुष की तुलना में उसे हीन और कमजोर बताकर उसे कभी अपनी प्रगति के लिए मौका ही नहीं दिया गया। लेकिन वास्तव में नारी का व्यक्तित्व महान है। नारी पुरुष का शक्ति स्थान है नारी के बिना पुरुष का जीवन अधूरा है। महादेवी वर्मा जी के मतानुसार "नारी केवल मांसपिण्ड की संज्ञा ही नहीं है। आदिम काल से आज तक विकास पथ पर पुरुष का साथ देकर, उसकी यात्रा को सरल बनाकर उसके अभिशापों को स्वयं झेलकर और अपने वरदानों से जीवन में अक्षय शक्ति भरकर, मानव ने हतस व्यक्तित्व, चेतना और हृदय का विकास किया है, उसी का पर्याय नारी है। किसी भी जीवित जाति ने उसके विविध रूपों और शक्तियों की अवमानना नहीं की, परन्तु किसी भी मरणासन्न जाति ने अपनी मृत्यु की व्यथा कम करने के लिए उसे मदिरा से अधिक महत्व नहीं दिया।"[50]

नारी को केवल उपयोग की वस्तु मानने वालों एवं धनबल पर उसको क्रय करने वालों की छायावादी कवियों ने भर्त्सना की है। उनको मूढ़ एवं व्यभिचारी कहा है–

"शय्या की क्रीड़ा कन्दुक है जिसको नारी,
अहंमन्य वे मूढ़, अर्थ बल के व्यभिचारी।"[51]

पंत जी ने नारी के हर रूप को पहचाना था एवं उसकी अंतरंग व्यथा का भी परिचय पाया है। अतः पंत जी नारी से अधिक प्रभावित रहे हैं। डॉ० नगेन्द्र जी ने इस सन्दर्भ में कहा है कि "मानव जगत में भी पंत जी नर की अपेक्षा नारी से अधिक प्रभावित रहे हैं, उसी का

गुणगान करना उन्हें अधिक प्रिय है।"[52]

पंत जी एक ओर नारी का गुणगान करते हैं तो दूसरी ओर उसकी दयनीय स्थिति में परिवर्तन लाने के लिये तथा उसके उत्पीड़न की समाप्ति के लिए कठोरता के साथ मानव के सामने चुनौती रखते हैं। वे कहते हैं–

"योनि नहीं है रे नारी, वह भाववी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर आश्रित।"[53]

तत्कालीन स्त्री–मुक्ति आन्दोलन का भी छायावादी कवियों पर काफी प्रभाव दिखायी देता है। इस युग में नारी घर की चहारदीवारी से मुक्त होकर खुली हवा में अपने व्यक्तिव का विकास करना चाहती थी। लेकिन सांस्कृतिक रूढ़ि, रीति, ईर्ष्या, कुत्सा के कारण आज तक उसे पीड़ा से मुक्ति नहीं मिली। घर आंगन के सिवा भारतीय नारी की दूसरी दुनिया मानो नहीं है। नारी की पीड़ा को व्यक्त करते हुए महादेवी वर्मा जी ने दर्द भरे शब्दों में कहा है–

"मैं नीर भरी दुःख की बदली।
स्पन्दन में चिर निस्पंद वसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हंसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरणी मचली।"[54]

वास्तव में पुरूष को नारी पर अधिकार जताते समय अपने कर्तव्यों का भी पालन करना चाहिए। लेकिन पुरूष नीति

के सन्दर्भ में महादेवी जी ने लिखा है कि "भारतीय पुरूष जीवन में नारी का जितना ऋणी है उतना कृतज्ञ नहीं हो सकता। अन्य क्षेत्रों के समान साहित्य में उसकी स्वभावगत संकीर्णता का परिचय मिलता रहा है।"[55] छायावादी कवियों ने भारतीय पुरूष का नारी के प्रति पूर्ण रूपेण कृतज्ञ होने का सन्देश दिया है और नारी की पीड़ा का चित्रण करते हुए उसकी महानता के गीत गाये है। जयशंकर प्रसाद जी के मतानुसार नारी पुरूष का जीवन सुखी बनाने वाली एवं सहायक होती है। पतझर में भी बहार लाने की क्षमता नारी में होती है–

"तूने इस सूने पतझड़ में भरदी हरियाली कितनी ,
मैनें समझा मादकता है, तृप्ति बन गयी वह इतनी।"[56]

भारतीय नारी को स्वतन्त्रता से विचरण करने का भी कभी मौका नहीं मिला। युगों से आज तक वह बन्दिनी बनकर रही है। धायावादी कवि प्रसाद, पंत, महादेवी एवं निराला ने नारी को इस परतन्त्रता से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है। प्रसाद जी तो नारी की दुरावस्था से क्षुब्ध थे। उन्होंने अधिकार विहीन, भविष्य हीन और दयनीय नारी को पुरूष की क्रूरता, अन्याय और अत्याचारों का शिकार बनते देखा था। नारी की यह शोचनीय स्थिति ही उनकी प्रतिक्रिया का कारण बनी और वे नारी स्वतन्त्रता के समर्थक तथा उसके अधिकारों के पक्षपाती बनकर साहित्यिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।[57] इसीलिए तो प्रसाद जी ने 'कामायनी में' श्रद्धा का निर्माण किया। निःसन्देह प्रसाद की श्रद्धा हमारे सामने एक आदर्श चरित्र

नारी, पथप्रदर्शिका, समाज कल्याणी और परोपकारिणी के रूप में उपस्थित होती है।[58] परवशता के कारण नारी अपनी विकास नही कर पायी। पन्त जी ने बन्दिनी नारी को ऊँचे आसन पर बिठाया एवं उसे पुरूष की प्रेरणा शक्ति का स्वाभाविक स्वरूप प्रदान किया।

प्रसाद और पंत की तरह निराला ने भी परतन्त्र नारी को मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है। निराला जी के नारी चित्रण एवं नारी मुक्ति की कामना के सन्दर्भ में डा0 बल्लभदास तिवारी लिखते हैं कि "निराला ने नारी में जहाँ पुरूष के मन को बरबस अपने आकर्षण में बांध लेने की क्षमता देखी है, वहाँ उसे लज्जा, शील, सामाजिक विभीषिकाओं की कारा में स्वयं बन्द पाया हैं वह स्वाभिमान से भरी, प्रेयसी भी है और पथप्रदर्शिका भी।"[59]

नारियों की पीड़ा में ग्राम्य नारी की पीड़ा अधिक तीव्र है। अन्य नारियों की तुलना में ग्राम्यनारी आर्थिक रूप से अधिक पीड़ित होती है। नारी की इस आर्थिक पराधीनता के विरूद्ध सशक्त स्वर छायावाद में सुनाई देता हैं अतः स्पष्ट है कि छायावादी कवियों ने नारी की व्यथा को हर रूप में देखा परखा है इस युग के कवियों ने एक ओर नारी की व्यथा, पीड़ा, वेदना एवं दुख दर्द का हृदय द्रावक चित्रण किया है तो दूसरी ओर नारी की महत्ता के गीत भी गाये हैं। साथ ही छायावाद में नारी मुक्ति की कामना भी की गयी है।

6. दलित की मानसिक दशा–

छायावादी कवि के दीन–हीन, शोषित, पीड़ित,

दलित वर्ग की वेदना एवं पीड़ा से पूरीतरह से परिचित होने के कारण इस युग में दलित वर्ग की मानसिक दशा का यथार्थ अंकित हुआ है। इतना ही नहीं अपितु छायावादी कवियों को भी अपने निजी जीवन में दलित की सी स्थिति से गुजरना पड़ा था। जीवन में संघर्ष करना पड़ा था। इसीलिए छायावाद की रचनाओं के मूल आत्म संघर्ष रहा है। प्रासद, पन्त और निराला को अपनी आधी जिन्दगी आर्थिक संकटों से जूझते हुए गुजारनी पड़ी। इस सन्दर्भ में पन्त जी का वक्तव्य दृष्टव्य है वे लिखते हैं 'भीतरी संघर्ष की दृष्टि से मनोनुकूल परिस्थितियों के अभाव में उनको अपनी शिक्षा दीक्षा तथा आत्म संस्कार के पथ में भी दुर्लघ्य बाधाओं का सामना करना पड़ा और बाहरी बौनी परिस्थितियों के यथोचित विकास में पर्याप्त विलम्ब हुआ। राष्ट्रीय जागरण के आत्मोनयन के युग में उन्हें अपने स्वभाव, प्रवृत्ति और मनोवेगों से भी कसकर लोहा लेना पड़ा। इस युग के दलित वर्ग को भी इसी स्थिति से गुजरना पड़ता था। फलस्वरूप छायावाद में दलित वर्ग की मानसिक दशा यथार्थ रूप में अंकित हो सकी है इस युग के दलित वर्ग की मानसिक दशा पर भाग्यवाद एवं अन्धविश्वासों का काफी प्रभाव दिखायी देता है, जो कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र देखा जा सकता है।

दलित वर्ग भाग्यवादी होने के कारण निजी संघर्ष की समाप्ति के लिये कभी प्रयत्नरत नहीं रहा है। छायावादी कवियों में भी कहीं-कहीं भाग्यवाद का स्वर उभरा हुआ दिखायी देता है। भाग्यवाद के प्रभाव से कवि ईश्वर की शरण लेता है-

"दुरित दूर करो नाथ

आशरण हूँ, गहो हाँथ"[60]

आलोच्य काल में दलित वर्ग भी भाग्यवाद के प्रभाव में अनेकों स्वप्निल महल खड़े करता है। कभी-कभी स्वप्निल दुनिया में रहकर सोचा करता है कि एक दिन भाग्य के बल पर निश्चित रूप से गागर में सागर भर जायेंगा और आज की दीन-हीन स्थिति में परिवर्तन आयेगा-

"आंखो के निल में दिखा गगन

वैसे कुल समा रहा है मन,

तू छोटा बन, बस छोआ बन

गागर में आयेगा सागर।"[61]

सदियों से लेकर आज तक दलित अन्याय, आत्याचार एवं पीड़ा सहता आया है, इसका कारण है समाज एवं दलित के मन पर अंधविश्वासों का गहरा प्रभाव। अंधविश्वासों के कारण ही मानव को महत्व नहीं दिया जाता है । मृत्यु के बाद उसके शव को पहनाये जाते हैं नये कपडे लेकिन जीते जी मानव को लज्जारक्षाणर्थ फटे चिथड़े भी नसीब नहीं होते हैं। यह भी अन्धविश्वास ही तो है कि मरणोत्तर शव का सम्मान किया जाता है।

"शव को दे हम रूप, रंग आदर मानव का ?

मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?

युग युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर

मानव के मोहाँध हृदय में किए हुए घर।[62]

7. परिवर्तन के चिन्ह–

इस युग में चारों ओर हाहाकार चरित्रिक पतन, अनाचार, कुत्सित स्वार्थो के पीछे अन्धी दौड़ और निर्धनता के दयनीय चित्रों को देख छायावादी कवियों के कोमल मन को गहरी चोट पहुँची, उनका हृदय रो पडा और इस दयनीय स्थिति के कुहासे से बाहर निकलने के लिये कवि मार्ग खोजने लगे। कुत्सित, रूढ़ि रीति, परम्पराएं एवं धर्म का बन्धन तोड़कर इस युग का कवि तत्कालीन परिस्थिति में परिवर्तन लाने की भी कामना करने लगा। इस सन्दर्भ में स्वयं महादेवी वर्मा लिखती हैं। "आज तो कवि धर्म के अक्षय वट और राजदरबार के कल्पवृक्ष की छाया बहुत पीछे छोड़ आया है। परिवर्तनों के कोलाहल में काव्य जब से मुकुट और तिलक से उतरकर मध्यवर्ग के हृदय का अतिथि हुआ तब से आज तक वहीं है। सत्य कहें तो कहना होगा कि उस हृदय की साधरणता ने कवि के नेत्रों से वैभव की चकाचौंध दूर कर दी और विवाद ने कवि को धर्मगत संकीर्णताओं केप्रति असहिष्णु बना दिया छायावाद का कवि धर्म के आध्यत्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है।"[63]

इस युग के समाज की प्रगति का रथ पुरातन रीति, रूढि, परम्पराएं, धर्म, शोषण आदि के कीचड़ से फंसा हुआ था। दलित वर्ग का जीवित रहना भी असम्भव हो गया था। साहित्यिक क्षेत्र में भी परम्पराओं का साम्राज्य था। अतः इस स्थिति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता थी। छायावादी कवियों ने इस दुख

और विषाद पूर्ण स्थिति में परिवर्तन लाने की ठान ली । छायावादी कवि ऐसी नवीन संस्कृति को जन्म देना चाहते थे, जिसमें ज्ञान विज्ञान के वैभव के बल पर विश्व की चरम आर्थिक प्रगति हो, विश्व में मानव का मानव के प्रति पूर्ण विश्वास स्थापित हो, व्यक्ति उसी सीमा तक जाए जहाँ तक जाने में औरों के अधिकारों का हनन नहीं होता, शोषण की प्रवृत्ति नष्ट हो जाए सहानुभूति आर्थिक संवेदना, एक दूसरे के प्रति अगाध विश्वास, दया, माया, ममता आदि उच्चमानवीय भावों का बोलबाला हो, राष्ट्र्गत संकीर्णता, स्वार्थ आदि नष्ट हो और विश्व परिवार की नींव चिर शान्ति की भित्ति पर खडी हो। तभी मानवता विजयिनी होगी, दलित दलित न रहेगा, शोषितों की पीड़ा समाप्त होगी और विश्व कल्याण की भावना साकार रूप ले सकेगी।

निष्कर्ष–

तत्कालीन सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकताओं से जन्म लेकर छायावाद ने एक ओर साहित्य को पुरानी मान्यताओं से मुक्त किया और दूसरी ओर रूढ़ि रीति, परम्पराओं में जकड़े समाज को भी मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है। दलित वर्ग की पीड़ा एवं वेदना से छायावादी कवियों ने द्रवित होकर दलित वर्ग को मुक्त करके उसको सम्मानित करने का प्रयास भी किया है।

छायावादी कवि महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ब्राह्मण जाति के होने के बावजूद ब्राह्मण नीति पर अपनी सशक्त लेखनी से प्रहार करते रहे और लाखों रूपये कमाने के बावजूद स्वयं जीवन भर दरिद्र रहे तथा अपना जीवन दलितों के प्रति समर्पित करते रहे। निराला जी का साहित्य दलित वर्ग के प्रति कोरी सहानुभूति नहीं, बल्कि उनका काव्य उस दलित प्रतीति से अनुप्राणित है जो स्वयं भोगी हुयी है। इसी गहरी प्रतीति के कारण निराला जी के काव्य में अनुभूति की तीव्रता दृष्टिगोचर होती है। किसान, मजदूर, नौकर, भिखारी एवं भारतीय नारी की असहायता का जीता जागता चित्र अंकित करने में निराला जी को सफलता मिलने का कारण भी यही है कि उन्होंने स्वयं दलित सा जीवन व्यतीत किया है। जीवन पथ पर चलते समय निराला जी को जितनी समस्याओं से जूझना पड़ा उतना शायद ही किसी अन्य कवि को जूझना पड़ा है। दानशूर कर्ण और हिन्दी काव्य जगत के दानी कवि रहीम की याद दिलाने वाले निराला जी जीवन भर अपने आप को बांटतें रहे और जीवन के अन्त तक

'दलित' बनकर रहे। भिखारी मजदूर एवं विधवा नारी का निराला द्वारा अंकित चित्र हिन्दी की स्थायी निधि बन गये हैं। अतः छायावादी काव्य धारा के कवियों में निराला जी को ही दलित वर्ग का चित्रण करने में अधिक सफलता मिली है।

छायावाद में दलित वर्ग का चित्रण करने में दूसरे सफल व्यक्ति है सुमित्रानन्दन पंत। पंत जी ने भारतीय किसान की हर वेदना पीड़ा एवं समस्या को बडी मार्मिकता के साथ अंकित किया है। 'ग्राम्या', 'युगवाणी' और 'युगान्त' की अधिकांश कविताएं गाँवो में रहने वाले शोषित पीड़ित किसानों का जीवन पट पाठ्कों के सम्मुख रखने में अत्यधिक सफल रही हैं। ग्राम जीवन में रहकर पंत जी ने स्वयं किसान सा जीवन व्यतीत किया था, फलस्वरूप किसान और उसका कर्जा, जमींदारों द्वारा होने वाला उसका शोषण तथा ग्राम नारियों की दयनीय अवस्था आदि का गहरी अनुभूति के साथ अंकन करने करने में उन्हें सफलता मिली है। पन्त जी मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर शोषित पीड़ित दलित वर्ग के जीवन में परिवर्तन लाना आवश्यक मानते हैं।

ऊँचे विचारों से प्रभावित कवि जयशंकर प्रसाद को दलित वर्ग का चित्रण करने में सफलता मिली है प्रसाद जी काव्य के माध्यम से दलित वर्ग के 'आँसू' एवं उनकी पीड़ाओं का 'झरना' फूट पड़ा है। कामायनी महाकाव्य में उन्होंने वे साम्यवादी विचार व्यक्त कियें है जो मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। डार्विन के विकासवाद से प्रभावित कवि जयशंकर प्रसाद जी ने दलित वर्ग की

स्थिति में अमूलाग्र परिवर्तन लाने के लिए वर्ग संघर्ष एवं क्रान्ति की आवश्यकता प्रतिपादित की है।

आधुनिक मीरा महादेवी वर्मा की कविताओं के माध्यम से भारतीय नारी की हर पीड़ा शब्द रूप लेकर निकल पड़ी है, जिससे अनुभूति की वास्तविक तीव्रता स्वाभाविक है। लेकिन काव्य के बदले दलित की व्यथा वेदना गद्य के माध्यम से अभिव्यक्त करने में महादेवी जी को अधिक सफलता मिली है। उनके द्वारा लिखे अनेकों "रेखाचित्र" ऐसे है जो दलित वर्ग की हर पीड़ा को अंकित करने में सफल सिद्ध हुए हैं। फिर भी नारी समस्याओं का यथार्थ चित्र कविता के माध्यम से अंकित करने में महादेवी जी को इतनी सफलता मिली है कि मानो उनका काव्य नारी के आँसुओं से ही लिखा है।

छायावाद के अन्य कवि डॉ0 रामकुमार वर्मा ने 'एकलव्य' के माध्यम से शोषित पीडित शूद्रो, अस्पृश्यों की व्यथा को मार्मिकता के साथ शब्द रूप दिया है। जाति पांति एवं वर्ग भेद आदि को मिटाने के लिए कवि मार्क्सवादी दर्शन तथा वर्ग संघर्ष और क्रान्ति की अनिवार्यता प्रतिपादित करता है।

अतः स्पष्ट है कि छायावाद युग वायवी एवं आसमानी नही ठोस धरती का युग है, जिसमें दलित की असहायता को सफलता के साथ अंकित किया गया है।

प्रेमचन्द और दलित चेतना–

प्रेमचन्द दलित जीवन को हिन्दी साहित्य के केन्द्र

में लाने वाले लेखक हैं। उनका कथा और विचार साहित्य हिन्दी क्षेत्र के दलित जीवन की त्रासदी का प्रमाणिक आकलन है। इस आकलन के मूल में दलित जीवन स्थितियों को बदलने की चिन्ता भी है। इसलिए हिन्दी में प्रेमचन्द ऐसे व्यक्तित्व के रूप में दिखायी देते हैं, जिनसे दलित आन्दोलन की टकराहट अपरिहार्य है। दलित का प्रश्न, वर्ण और जाति का प्रश्न हिन्दी-प्रदेश में नवजागरण के एजेन्डे से छूट गया था। प्रेमचन्द ऐसे लेखक थे, जो इतिहास द्वारा छोड दिये गए इस प्रश्न को अपने साहित्य के माध्यम से निरन्तर केन्द्र में लाने के लिए यत्नशील रहे। आज हिन्दी-प्रदेश का दलित जागरण नवजागरण के दौरान छूट गयें ऐसे ऐतिहासिक प्रश्न का नवोन्मेष है।[64]

प्रेमचन्द के सन्दर्भ में दलितों की समस्या पर विचार होता रहा है प्रसंगवश ही होता है, लेकिन होता रहा है। लेकिन दलित साहित्य के सन्दर्भ में प्रेमचन्द पर विचार कम होता रहा है क्योंकि प्रेमचन्द के साहित्य में भले ही दलितों की समस्या पर लिखा गया हो लेकिन ये तथ्य है कि प्रेमचन्द दलित साहित्यकार नही थे। इससे प्रेमचन्द की तौहीन नही होती है। और ये तथ्य है जिसे स्वीकार करना चाहिए बलात् दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द को गड्डमड्ड करने की कोशिश नही करनी चाहिए। वस्तुगत ढंग से, वैज्ञानिक ढंग से प्रेमचन्द के साहित्य में दलित जीवन का और दलित साहित्य का जो भी स्वरूप प्रगट होता है उसे स्पष्टता से कहते हुए दलित साहित्य जो अपनी स्वतन्त्रता और स्वायत्वता प्राप्त करना चाहता है और उसका आग्रही है, उसका पूरा सम्मान किया

जाना चाहिए।

लेकिन यह विचित्र बात है कि प्रेमचन्द की पहली रचना भी दलितों से सम्बद्ध है और प्रेमचन्द की अन्तिम रचना भी दलितों से सम्बद्ध है। जो पहली कहानी या संस्मरणनुमा कहानी लिखी थी 'मेरी पहली रचना' इसमें प्रेमचन्द अपने तथाकथित मामा का मजाक उडाते हैं। जब प्रेमचन्द बहुत छोटे थे और लेखक नहीं बने थे तब उनके परिवार में घटी हुयी एक घटना है। उनके मामू थे- वे एक दलित स्त्री के साथ फंसे थे। वे रंगे हांथों पकड़े गये और दलितों ने उनकी डटकर मरम्मत की थी। प्रेमचन्द ने हास्य विनोद की शैली में वह रचना लिखी थी वह रचना फाडफूड़ कर फेंक दी गयी। लेकिन प्रेमचन्द को याद बनी रह गयी और यह याद इतनी दूर तक बनी थी कि अन्तिम महत्वपूर्ण उपन्यास गोदान तक बनी रही। उसमें पंडित दातादीन के पुत्र पंडित मातादीन सिलिया चमारिन के साथ वही व्यवहार करते हैं। उन्हें पकड़कर चमार उनके मुंह में हड्डी डाल देते हैं और इटकर उनकी वैसी मरम्मत करते हैं। आश्चर्य होता है कि क्या 1936 में दलितों ने ऐसा किया होगा या करने का साहस किया होगा? कभी लोग इसे अविश्वसनीय मानते हैं और प्रेमचन्द की कल्पना की उडान मानते हैं। लेकिन इस बात को प्रेमचन्द क्या करते हैं कि स्वयं उनके मामू की ऐसी ही मरम्मत हो चुकी थी। वो घटना भूली नही थी प्रेमचन्द को।[65]

प्रेमचन्द्र ने स्वयं लिखा है कि बुढ़ापा अक्सर बचपन का पुनरागमन हुआ करता है और कई तरह से होता है। इस

उम्र में आकर बचपन की कई अन्य बहुत सी पुरानी बातें अक्सर याद आती है। प्रेमचन्द को गोदान लिखते समय अगर वो घटना याद आयी हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है। एक संयोग ही है कि प्रेमचन्द की पहली रचना का सम्बन्ध भी ऊँची जाति वाले किस तरह दलितों की इज्जत लूटते हैं उन्हें हिचक नही होती उनकी स्त्रियों के साथ नाजायज सम्बन्ध रखते हैं, से है। और फिर ये एक तरह का दमन और शोषण का, अत्याचार का रूप है। प्रेमचन्द के अनुभव में ये पहली घटना आयी थी। और जेसा कि मैनें कहा कि अन्तिम उपन्यास में भी प्रेमचन्द ने लिखा है कि ऊँची जाति वाले कैसे दलितों की स्त्रियों के साथ व्यवहार करते हैं।

इस प्रकार समूचे प्रेमचन्द साहित्य के बीच में दलितों को लेकर लिखा साहित्य मिले तो इस पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। एक संवेदनशील जागरूक कथाकार साहित्यकार की हैसियत से उनके दृष्टि पथ पर ज्वलंत समस्या बराबर बनी रही, किन्तु इस पूरे विकासक्रम में किसी न किसी रूप में प्रेमचन्द के साहित्य का, उनके जीवन का जो मुख्य लक्ष्य था वह प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा है – "मेरी कोई बहुत बड़ी आकांक्षा नही है, सबसे बड़ी आकांक्षा है स्वराज्य। हम आजाद हों और वह स्वराज्य मुट्ठी भर लोगों का न हो, बल्कि वह स्वराज्य भारत की सारी जनता के लिए स्वराज्य हो, खुशहाली लेकर के आये उनका जीवन बेहतर हो,"[66] ये मुख्य लक्ष्य प्रेमचन्द के जीवन का था और शायद आजादी के दौर में लिखने वाले जो जागरूक लेखक थे उनकी मुख्य समस्या

थी– उपनिवेशवादी साम्राज्यवादी जुए से भारत की मुक्ति, जिसे हम राष्ट्रीय मुक्ति कहते हैं। अब इस राष्ट्रीय मुक्ति का नक्शा हर लेखक के अपने संस्कार, संवेदना, विचारधारा के अनुसार अलग–अलग था। उस दौर में जो जागरूक लेखक थे, जिनमें सामान्य रूप से जिन दो लेखकों की गणना हम हिन्दी में करते हैं एक निराला दूसरे प्रेमचन्द। निराला और प्रेमचन्द का राष्ट्रीय मुक्ति का जो नक्शा था, उसका गहरा सम्बन्ध क्योंकि आम जनता से था। समाज में जो सबसे ज्यादा दलित, पीड़ित, शोषित और गरीब लोग हैं, उपेक्षित हैं, उनके प्रति गहरा लगाव हिन्दी के इन दो लेखकों में सबसे ज्यादा पाया जाता है।

प्रेमचन्द के साहित्य में इतिहास में पहली बार किसी उपन्यास का नायक जाति का चमार सूरदास बनता है और अनेक लोगों ने लक्षित किया हैं कि सूरदास एक तरह से कथा साहित्य में गांधी जी का प्रतीक है। तरह–तरह से लोगों ने व्याख्यायें भी की हैं। लेकिन यह गौरव तो प्रेमचन्द जाता है कि जिस साहित्य में महानायक आमतौर से धीरोदात्त, धीरललित आदि उच्च वर्ण के लोग हुआ करते थे, पहली बार एक उपन्यास का कथानायक उन्होंनें सूरदास नामक चमार को रखा। रंगभूमि की विषय वस्तु अछूतों की समस्या नही है, सूरदास उसमें एक किसान की हैसियत से आता है। इसलिए रंगभूमि का नायक सूरदास एक दलित जरूर है लेकिन रंगभूमि की मुख्य समस्या दलितोंद्धार या दलित मुक्ति नही है। रंगभूमि की समस्या राष्ट्रीय मुक्ति है। उस राष्ट्रीय मुक्ति में प्रेमचन्द

दलितों का जो रूप सामने रखते हैं और ये 1924 में लिखा उपन्यास है और 1925 में छपा था- तब तक हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रोग्राम में दलित कहीं नहीं थें। असहयोग आन्दोलन दलितों का आन्दोलन नही था। चौरी-चौरा की घटना दलितों को लेकर नही हुयी थी। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में तब तक केन्द्र में दलित आन्दोलन नही आ सका था बावजूद इसके कि एक अरसे से बाबा साहेब अम्बेडकर अपनी लड़ाई लड़ रहे थे, लेकिन वो राष्ट्रीय आन्दोलन या कांग्रेस का कार्यक्रम नहीं बन सका था। यह सच्चाई है।

प्रेमचन्द की कृतियों, उनकी कहानियों, उनके उपन्यासों में 1931 के आस-पास से एक बुनियादी परिवर्तन होता है। राउण्ड टेबुल कान्फ्रेन्स हो चुकी थी। बाबा साहब अम्बेडकर दलितों के अलग प्रतिनिधित्व और निर्वाचन का सवाल उठा चुके थे और अंग्रेज सरकार देने के लिए तैयार बैठी थी। गाँधी जी ने यरवदा जेल में आमरण अनशन किया था और आखिर में लम्बे बहस और समझौते के दौरान पूना पैक्ट हुआ। 1932 में जिसमें पंडित मदन मोहन मालवीय जैसे लोगों ने पहल की थी और स्वयं बाबा साहेब अम्बेडकर ने उस पर हस्ताक्षर किये थे। महात्मा के प्राणों की रक्षा के लिए। यद्यपि वे सहमत नहीं थे। इसलिए मालूम होता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीतियों के कारण या कहिए उनकी कूटनीतियों के कारण राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के केन्द्र में एजेण्डा पर पहला कार्यक्रम दलित समस्या बन गया। दलित समस्या राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में केन्द्र

में आयी, निश्चित रूप से इसका श्रेय डॉ0 भीमराव अम्बेडकर को है।

प्रेमचन्द के साहित्य में जो समस्या रंगभूमि जैसे महान उपन्यास के केन्द्र में नहीं आ सकी, वह समस्या 'कर्मभूमि' में आयी–मुख्य समस्या बन करके। कर्मभूमि उपन्यास में ऊपर से दिखायी पड़ता है– पहली बार हरिजनों का मन्दिर प्रवेश और उस मन्दिर प्रवेश में बाधा डालने वाली ताकतें। महाराष्ट्र में सम्भवतः नासिक में मन्दिरों में दलितों के प्रवेश का आन्दोलन शुरु हो चुका था और उसका प्रभाव था। जो प्रेमचन्द लिख चुके थे कि मन्दिर में भजन–कीर्तन सब एक साथ करते है, पहली बार प्रेमचन्द को एहसास हुआ, यथार्थ से जब टकराये तो 'काशी में रहते हुए उनके आंख के नीचे विश्वनाथ मन्दिर था और उनका ध्यान ही नही गया कि वहाँ दलित जाते हैं कि नही जाते। और जब उन्हें लगा कि वहीं भजन कीर्तन करने वाले ब्रह्मचारी ने सहसा देखा कि स्रोताओं के पीछे की कतारों में कुछ दलित बैठे हुए हैं, वे उठे और जूता लेकर उनकी पिटाई करने लगे। सवयं जब कथावाचक पिटाई कर रहा हो तो भक्त भला कैसे पीछे रह सकता है। भक्त भी उठकर पिटाई करने लगे। कुछ राष्ट्रीय विचार वाले गांधी जी के अनुयायी नेता सामने आते हैं और रोकने की कोशिश करते हैं। आखिर में अमरकान्त के बाप समरकांत घोषणा करते हैं– अब मन्दिर का द्वार दलितों के लिए भी खुल गया है और अब चाहे तो वे मन्दिर में प्रवेश कर सकते हैं।'[67] प्रेमचन्द ने समझ लिया था कि मन्दिर प्रवेश काफी नही है।

प्रेमचन्द के साहित्य में साफ-साफ दिखायी देता है कि दलितों का मन्दिर प्रवेश समस्या का समाधान नही है। अछूतोद्धार के लिए जिस तरह से कार्य कांग्रेस करती रही है, वह पर्याप्त नही है। प्रेमचन्द बहुत पहले से दलितों को या तो मजदूर के रूप में देखते थे या तो किसान के रूप में देखते थे। "कायाकल्प" में उन्होंने स्वयं दलितों को मजदूर कहा है। बुनियादी समस्या है दलितों का आर्थिक उत्थान और सामाजिक सम्मान। अगर यह नहीं मिलता तो बाकी अछूतोद्धार वाली चीजे जो हैं वो एहसान करने जेसी चीजें हैं। दलितों को एहसान की जरूरत नही है - यह प्रेमचन्द समझ गये थे। गाँधी जी से प्रेमचन्द का मत अलग दिखायी पड़ता है- जब तक जाति-पांति की व्यवस्था नही तोड़ी जायेगी तब तक दलितों को मुक्ति नहीं मिलेगी और उसकी बुनियाद जो धार्मिक पाखण्ड है, धर्म की जो विकृति हुयी है, जो सच्चा धर्म नही रह गया है, हिन्दू धर्म की जो विकृति है, जो दोष आ गया है, जब तक इस दोष से मुक्त नही किया जायेगा तब तक धर्म के नाम पर यह दलित समस्या जटिल होती जायेगी। शोषण बढ़ता जायेगा। ये प्रेमचन्द समझ गये थे। इसीलिए समाधान के रूप में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के बीच एक व्यापक आर्थिक परिवर्तन नहीं होता, सामाजिक परिवर्तन नहीं होता अर्थात साम्राज्यवादी और सामन्ती ढांचे के साथ उसी से जुड़ा हुआ कानून भी परिवर्तित नहीं होता, व्यवहार में परिवर्तन नही होता तब तरफ ये समस्या दूर नही होगी। ऐसा मालूम होता है कि 1931 से लेकर 1936 तक प्रेमचन्द्र एक संवेदनशील यथार्थवादी लेखक के

नाते ये अनुभव करने लगे थे।

अपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास गोदान में प्रेमचन्द ने दलितों के साहस का चित्रण किया है। ऐसा करके प्रेमचन्द ने भारतीय समाज पर बड़ा भारी उपकार किया है। मातादीन सिलिया को भोगकर छोड़ देता है, क्योंकि वह अछूत है। उसके साथ सोने से परहेज नहीं, लेकिन उससे विवाह नहीं कर सकते। प्रेमचन्द ने इस ढोंग का खूब मजाक उड़ाया है और साथ ही समाज के बदले तेवर का महत्वपूर्ण संकेत भी दिया है। यह बात इन दो कथनों से सिद्ध की जा सकती है। पहला सिलिया की मां अपना दुःख और क्रोध व्यक्त करते हुए मातादीन से कहती है– "तुम बड़े नेमी धरमी हो। उसके साथ सोओगे, लेकिन उसके हांथ का पानी न पिओगे। यही चुड़ैल है कि सब सहती है। मैं तो ऐसे आदमी को माहुर दे देती।"[68] दूसरा सिलिया का बूढ़ा पिता ललकारते हुए कहता है– "सिलिया कन्या जात है, किसी न किसी के घर जायेगी ही। इस पर हमें कुछ नही कहना है, मगर उसे जो कोई भी रखे, हमारा होकर रहे। तुम हमें ब्राह्मण नही बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी तो सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नही है, तो फिर तुम चमार बनो। हमारे साथ खाओ–पिओ, हमारे साथ उठो–बैठो। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धरम हमें दो।"[69] और गोदान में दलित सिर्फ इतना कहते भर नहीं है, बल्कि मातादीन के मुँह में हड्डी का टुकड़ा डालते हैं कि तुमने हमारी इज्जत ली है, हम तुम्हारा धर्म भ्रष्ट करेंगे। किन्तु गहरायी से विचार

करें तो उस व्यक्ति के पास कौन सा धर्म है तो एक स्त्री को भोगकर छोड़ देता है? उससे बड़ा विधर्मी तो ढूंढ़े न मिलेगा। फिर उसके धर्म के नष्ट होने न होने का क्या प्रश्न! ऐसे लम्पटों के साथ ऐसा व्यवहार ही धर्मानुकूल है।

'गोदान' के ये प्रसंग अम्बेडकर के आन्दोलनों की याद दिलाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे प्रेमचन्द दलित समस्या के सम्बन्ध में डॉ0 अम्बेडकर के विचारों को महत्वपूर्ण मानने लगे थे, अन्यथा ऐसे क्रान्तिकारी चरित्रों और घटनाओं का सृजन उस काल में सम्भव न था। यद्यपि प्रभाव चाहे जो हो, लेकिन सन् 1930 से 1936 तक का दलितों सम्बन्धित लेखन वर्णाश्रम की चूले हिलानें वाला है।

प्रेमचन्द आधुनिक युग के पहले महत्वपूर्ण लेखक हैं उन्होनें दलित समस्या पर सर्वाधिक गहराई से विचार किया हैं। मुख्य रूप से उनकी कहानियां दलित तथा वर्ण-व्यवस्था के विरोध के महत्वपूर्ण सन्दर्भों से भरी पड़ी है। प्रेमचन्द का प्राथमिक तर्क मनुष्य के जन्मगत विशेषाधिकार वरक्स गुण कर्म के महत्व स्थापना का है। मनुष्य की पहचान तथा उसकी स्थिति का निर्धारण उसमें निहित मानवीय गुणों तथा उनके कर्मो से होना चाहिए। 'ठाकुर का कुआं' कहानी में गंगी कहती है "हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँच है। इसलिये कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं? यहाँ तो जितने हैं एक से एक छंटे हैं। चोरी ये करें, जाल फरेब ये करें, झूठे मुकदमें ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस गढ़रिये की भेड़ चुरा ली थी और

बाद में मारकर खा गया था। इन्हीं पंडित जी के घर में बारहों मास जुआ होता है। यही साहू जी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं काम करा लेते हैं। मजदूरी देते हुए नानी मरती है। किस बात में ये हमसे ऊँचे हैं। "[70] गंगी का 'क्यों' ? नये युग बोध तथा उसकी नयी चेतना से संचालित है जिसका निष्कर्ष प्रेमचन्द गोदान में कहते हैं "यदि हमार देश इसी प्रकार जातियों में उलझा रहा, छुआ-छूत चलती रही तो आने वाले जन-तंत्र के लिए शुभ नही होगा।"[71] जाति व्यवस्था के पक्ष में दिये जाने वाले सामाजिक पर निर्भरता तथा समरसता के तर्क की भयावह सच्चाई को व्यक्त करते हुए 'ठाकुर के कुआं' में गंगी का पति कहता है – "बाभन देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर साहब लाठी मारेंगे, साहू जी एक का पाँच लेगें। हम लोगों का दर्द कौन समझता हैं। हम तो मर भी जाएं तो दुआर पर झांकने नही आते, कंधा देना तो बड़ी बात है। "[72] इसी प्रकार 'सद्गति' कहानी में दुःखी की लाश की सद्गति का दृश्यचित्र वर्ण-व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था के कारण भारतीय समाज में व्याप्त मनुष्य-मनुष्य के बीच घृणा का ज्वलंत उदाहरण है। चूंकि वर्ण-व्यवस्था में दलित से सवर्ण का रिश्ता मनुष्य से मनुष्य का नही होता है। मूलतः दलित होता है। भंगी, चमार, पासी, मनुष्य नही होते। इसीलिए 'दूध के दाम' में जमींदार माहेश्वर नाथ कहते हैं "और चाहे भी हो जाए, भंगी-भंगी ही रहेंगे। इन्हें आदमी बनाना कठिन है। "[73] ध्यान से देखा जाए तो उपर्युक्त उद्धरण में मनुष्य का अपना गुण-कर्म, उसमें निहित मानवीयता एवं मनुष्य तथा मनुष्य के मध्य सामूहिक तथा व्यक्तिगत

रिश्ते में प्रेम को स्थगित कर मनुष्य के एक बड़े समूह तथा वर्ग के प्रति पशुवत व्यवहार के लिए वैधानिकता के रूप में जारी वर्ण-व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था को प्रेमचन्द ने पूरी संवेदना के साथ अपनी कहानियों का विषय बनाया है। 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआ' तथा 'दूध का दाम' ही नही 'कफन', 'मन्त्र', 'मन्दिर', 'राष्ट्र-सेवक' आदि कहानियों की जमीन भी थोड़े हेर-फेर के साथ यही है। दृष्टि संवेदना तथा यथार्थ के कई स्तर तथा रूप के बावजूद इन कहानियों का निष्कर्ष और निष्पत्तियां लगभग समान हैं। लगभग सभी कहानियों के केन्द्र में मनुष्य, मनुष्यता तथा आपसी सम्बन्धों को घृणास्पद बना देने वाली जाति व्यवस्था ही है।

सामाजिक भेदभाव, गैर बराबरी, दलितों के प्रति अमानवीय तथा घृणास्पद व्यवहार के साथ-साथ प्रेमचन्द दलित जीवन में व्याप्त अभाव तथा गरीबी को अपनी कहानियों में चित्रित करते हैं। उनके लेखे भूख तथा गरीबी दलित जीवन का अविभाज्य हिस्सा है। दलित जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक कहानियों के पीछे भूख, अभाव तथा गरीबी का लहराता हुआ सागर मौजूद है। 'मन्त्र' कहानी में भगत के घर का दृश्य है। "एक मिट्टी के तेल की कुप्पी ताक पर जल रही थी। घर में न चारपाई थी न बिछौना था। एक किनारे थोड़ी सी पुआल पड़ी थी। इस कोठरी में एक चूल्हा था। बुढ़िया दिन भर उपले और लकड़ियां बटोरती थी। बूढ़ा रस्सी बंटकर बाजार में बेचता था। यही उनकी जीविका थी।"[74] सद्गति के दुःखी चमार के घर की स्थिति इससे भिन्न नही है। यहाँ भी घर फूस का, न खटिया,

न चारपाई, हाड़-तोड़ मेहनत पर प्राप्य कुछ भी नहीं है।"[75] 'मन्दिर' कहानी की 'मां दिन भर एक गट्ठर घास छील कर आने दो आने पा जाती हैं गांव भर दौड़ती है पर उधार के लिए एक आना नही मिलता।'[76] नीम के पेड़ के नीचे 'दूध का दाम' के नायक मंगल का डेरा है, जहाँ सिर्फ एक टाट का फटा हुआ टुकड़ा, दो मिट्टी के कटोरे और एक धोती जो सुरेश बाबू की उतरन थी जाड़ा गर्मी बरसात हर मौसम एक सा आराम देह'।[77] कफन कहानी में घीसू माधव का "विचित्र जीवन है। घर में मिट्टी के दो चार बर्तन के शिवा कोई सम्पत्ति नही है। फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढाके हुए जिये जाते थे। कर्ज से लदे हुए, गालियाँ खाते, मार खाते।"[78] प्रेमचन्द की दलित सन्दर्भित कहानियों में समाजशास्त्र के साथ-साथ अर्थशास्त्र का विनियोग अद्‌भूत है। 'रात-दिन की मेहनत और प्राप्य कुछ भी नहीं' का केन्द्रीय तथ्य-तर्क हर जगह व्याप्त है। इस रूप में प्रेमचन्द वर्ण-व्यवस्था को मेहनत श्रम के मूल्य का शोषण करने वाली व्यवस्था के साथ जोड़ कर देखते हैं। घीसू माधव की दशा तथा उनकी श्रम के प्रति उदासीनता की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, "जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी नही थी। और किसानों के मुकाबले वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं का लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादे सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा होना कोई अचरज की बात नही थी, हम तो कहेंगें कि घीसू किसानों से कहीं ज्यादे विचारवान था। "[79] इसीलिए वे लिखते हैं कि "समाज की ऐसी

व्यवस्था जिसमें कुछ लोग मौज करे और अधिक लोग पिसे कभी शुभ नही हो सकती।"

निष्कर्ष रूप में प्रेमचन्द की दलित जीवन से जुड़ी दर्जनों कहानियां (प्रथमतः) भारतीय समाज व्यवस्था के विडम्बना पूर्ण स्वरूप को हमारे सामने लाती हैं जहाँ मनुष्य एक जाति कुल में जन्म लेने के कारण रौरव नरक जीने के लिए बाध्य होता है। उसका गुण और कर्म कितना ही अच्छा अथवा महान क्यों न हो वह सामाजिक उपेक्षा का गहरा दंश भोगने के लिए अभिशप्त होता है। प्रेमचन्द की कहानियां स्थापित करती हैं कि वस्तुतः भारतीय समाज में दलित वर्ग पशुवत जीवन जीने के लिए बाध्य है। लेकिन यदि परिस्थितियों में भी मानवता का दर्शन करना हो तो समाज का यही तलछट है। धन केन्द्रित स्वर्ग लोक के बरक्स सच्ची मानवता अभाव के इसी दलदल में मौजूद है। वे दलितों की मुक्ति के लिए की जाने वाली भाषणबाजी का मजाक उड़ाते हैं बल्कि उसकी जगह पर उन कारणों की तलाश करते हैं जो पाठक को परिवर्तन के लिए बेचैन करते हैं और दलित मुक्ति के पथ का निर्माण करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 डॉ0 नामवर सिंह/छायावाद/सरस्वती प्रेस, बनारस/प्रथम संस्करण, 1995/ पृ0-14
2 डॉ0 नामवर सिंह/छायावाद/सरस्वती प्रेस, बनारस/प्रथम सस्करण, 1995/ पृ0-22
3. डॉ0 नामवर सिंह/आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां/लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद/नया संस्करण, 1962/ पृ0-21,22
4 डॉ0 शम्भूनाथ सिंह/छायावाद युग/सरस्वती प्रेस, बनारस/प्रथम संस्करण, 1995/ पृ0-123, 124
5 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी/अशोक के फूल / पृ0- 173
6. डॉ0 नगेन्द्र/ आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ/पृ0-1
7 डॉ0 परशुराम शुक्ल विरही/आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद/ग्रन्थम् प्रकाशन कानपुर/ पृ0-119
8. डॉ0 शम्भूनाथ सिंह/छायावाद युग/ पृ0-131-132
9 डॉ0 नामवर सिंह/छायावाद/ पृ0-15
10 डॉ0 शम्भूनाथ सिह/छायावाद युग/ पृ0-132
11 डॉ0 शम्भूनाथ सिंह/छायावाद युग/ पृ0-120
12. डॉ0 शिवकुमार मिश्र/नया हिन्दी काव्य/ पृ0-72
13 "प्रगतिवाद में ही ये जनतान्त्रिक भावना में प्रतिफलित नहीं हुई है, छायावाद में बहुत पहले से यह काव्य-तत्व सफलीभूत हुआ है, जिस प्रगतिशीलता को मार्क्सवादी लेखक विकसित करना चाहते हैं वह जीवन मूल्य भले ही छायावादी कवियों में उनके अनुसार स्वीकृत मापदण्ड से भिन्न पड़ता हो, किन्तु वह भी हर दृष्टि से राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य है।"- डॉ0 संतोष कुमार तिवारी/छायावादी काव्य की प्रगतिशील चेतना/ भारतीय ग्रन्थ निकेतन, दिल्ली, प्रथम सस्करण-1974/पृ0-248
14 डॉ0 नामवर सिंह/छायावाद / पृ0-22
15 डॉ0 शिवकुमार मिश्र/नया हिन्दी काव्य/ पृ0-74
16 डॉ0 नामवर सिंह/छायावाद / पृ0-34
17 डॉ0 शिवकुमार मिश्र/नया हिन्दी काव्य/ पृ0-71
18 डॉ0 अम्बा प्रसाद पाण्डेय/छायावादी काव्य में लोक मंगल की भावना/प्रेम प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली/प्रथम संस्करण, 1973/ पृ0-155
19 सुमित्रानन्दन पंत/ लोकायतन/ पृ0-11
20 सुमित्रानन्दन पत/युग नृत्य/ युगवाणी/ पृ0-118-119
21 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/सरोज स्मृति/अपरा/ पृ0-154
22. डॉ0 विनयमोहन शर्मा/कवि प्रसाद आंसू तथा कृतियां/विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी/चतुर्थ संस्करण, 1966/ पृ0-54

23 कृष्ण बिहारी मिश्र/आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य/ पृ0-240
24 सुमित्रानन्दन पंत/ बापू के प्रति/युगान्त/ पृ0-62
25. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/अपरा/ पृ0-128
26 सुमित्रानन्दन पंत/ लोकायतन/ पृ0-159
27 डॉ0 रामकुमार वर्मा/ एकलव्य/ पृ0-222
28 डॉ0 रामकुमार वर्मा/ एकलव्य/ पृ0-98
29 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/स्वामी प्रेमानन्द जी महराज/अंणिमा/ पृ0-63
30 कृष्ण बिहारी मिश्र/आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य/ पृ0-162
31 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/सांध्यकाकली/ पृ0-58
32 सुमित्रानन्दन पंत/ कृषक/युगवाणी/ पृ0-51
33 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/बादल राग/अपरा/ पृ0-13
34 कृष्ण बिहारी मिश्र/आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य/ पृ0-102
35. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/वर्षा/नयेपत्ते/ पृ0-97
36. सुमित्रानन्दन पंत/ वे आँखे/आधुनिक कवि, 2/ पृ0-67
37 निराला/कुत्ता भौंकने लगा/नये पत्ते/ पृ0-62
38 कृष्ण बिहारी मिश्र/आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य/ पृ0-164
39 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/तोडती पत्थर/अपरा/ पृ0-29
40 जयशकर प्रसाद/तुम/झरना/ पृ0-61
41 सुमित्रानन्दन पंत/ श्रमजीवी/युगवाणी/ पृ0-52
42 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/कुकुरमुत्ता/ पृ0-4
43 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/कुकुरमुत्ता/ पृ0-39
44 डॉ0 शम्भूनाथ सिह/छायावाद युग/ पृ0-136
45 सुमित्रानन्दन पंत/ युग-भू/लोकायतन/ पृ0-48
46 सुमित्रानन्दन पत/ ताज/युगान्त/ पृ0-54
47 डॉ0 नामवर सिंह/छायावाद/ पृ0-42
48 महादेवी वर्मा/चिन्तन के कुछ क्षण/दीप शिखा/भारती भंडार इलाहाबाद, आठवां संस्करण, संवत 2032/ पृ0-49
49 जयशकर प्रसाद/ कामायनी/ पृ0-114
50 महादेवी वर्मा/चिन्तन के कुछ क्षण/दीप शिखा/ पृ0-49
51. सुमित्रानन्दन पंत/धनपति/युगवाणी/ पृ0-49
52. डॉ0 नगेन्द्र/'सुमित्रानन्दन पत/नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सातवां संस्करण- 1977/ पृ0-39
53. सुमित्रानन्दन पंत/नारी/ग्राम्या/ पृ0-85

54 महादेवी वर्मा/सांध्यगीत/यामा/ पृ0-233
55 महादेवी वर्मा/चिन्तन के कुछ क्षण/दीप शिखा/ पृ0-52
56 जयशंकर प्रसाद/ कामायनी/ पृ0-223
57 डॉ0 देवेश ठाकुर/प्रसाद के नारी चरित्र/ पृ0-305
58 डॉ0 वल्लभ दास तिवारी/हिन्दी काव्य में नारी/ पृ0-571
59 डॉ0 वल्लभ दास तिवारी/हिन्दी काव्य में नारी/ पृ0-577
60. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/अर्चना/ पृ0-22
61 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला/आराधना/ पृ0-18
62 सुमित्रानन्दन पंत/ताज/युगान्त/ पृ0-54
63. महादेवी वर्मा/चिन्तन के कुछ क्षण/दीप शिखा/ पृ0-37-38
64. सं0 सदानन्द साही/दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द/ पृ0-4
65 डॉ0 नामवर सिंह/दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द का साहित्य/सं0 सदानन्द साही पृ0-57
66. सं0 सदानन्द साही/दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द/ पृ0-58
67. सं0 सदानन्द साही/दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द/ पृ0-61
68 विविध प्रसंग, भाग दो/ पृ0- 208
69. विविध प्रसंग, भाग दो/ पृ0- 208
70 प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-15/ पृ0- 283
71 प्रेमचन्द /गोदान/ पृ0- 259
72 प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-15/ पृ0- 283
73. प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-15/ पृ0- 285
74. प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-14/ पृ0- 69
75 प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-14/ पृ0- 34
76 प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-13/ पृ0- 240
77. प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-15/ पृ0- 285
78 प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-15/ पृ0- 481
79 प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-15/ पृ0- 481

पंचम् अध्याय

उपंसहारः-

समय का चक्र अपनी गति से चलता है। वह न किसी के रोके रूका है और न रूक सकता है। कल हम नई शदी की दहलीज पर खड़े थे और बारह तीलियों का चक्र पूरा होते ही आज हम इक्कीसंवी शदी में हैं। नयी सदी हमारे लिए कैसी हो सकती है, यह इस पर निर्भर करता है कि पिछली शदी की संध्या कैसी थी? मेरा विचार है कि यह पूरी शदी समाजसुधारों की विफलता की सदी कही जा सकती है। इस अर्थ में यह कट्टर पंथियों के उभार की पुनरोत्थानवाद की सदी भी हो सकती है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि दलितों के लिए नई सदी का प्रभात कैसा हो सकता है। देश का अभिजन वर्ग और पुनरोत्थान वादी खेमा जिस जोश और जश्न के साथ नई सदी के स्वागत का आयोजन कर रहा है, यह भी इस बात को रेखांकित करता है कि नई सदी किन लोगों की होगी और दलितों को किन चुनौतियों से जूझना होगा?

दलितों को डा. भीमराव अम्बेड़कर के रूप में एक क्रान्तिकारी नेतृत्व इस सदी के आरम्भ में मिला था, जिसने दलित मुक्ति का सशक्त और देश व्यापी आन्दोलन खड़ा किया था। जिन राजनैतिक अधिकारों से दलित अब तक वंचित थे, वे उन्हें इसी आन्दोलन से प्राप्त हुए थे।

सन 1812 में अंग्रेज इस देश में आये और उसके साथ ही भारतीय जनता का आधुनिकता से परिचय हुआ। रेल, पोस्ट,

तार आदि सुलभ सम्पर्क के साधन बन गये और भारतीय जनता के मन पर छाया हुआ परमपरावादी अंधविश्वासो का कोहरा हटने लगा। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क ने भारतीयों को 'जड़ता' का बोध कराया। फलस्वरूप अनादि काल से निद्रित यहाँ का मानव जागृत हो गया, वह अपनी निष्क्रियता को देखकर झुंझलाया और उसमें स्वतन्त्रता की भावना प्रबल रूप से उमड़ पड़ी। मानव स्वअस्तित्व को पहचानने लगा। फलस्वरूप मानव पर किसी दूसरे मानव का अधिकार उसे अखरने लगा। इस प्रकार से अनेकों विचारों ने उसके मन एवं मस्तिष्क को मंथित किया। अतः नवजागरण की नई चेतना समूचे देश में व्याप्त हो गयी, जिससे कवि भी अपने आप को अलग नही रख पाये। साहित्य के क्षेत्र में भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया आम जनता से दूर रहने वाले साहित्य को मानव के निकट लाकर मानव के दुख सुखों के साथ उसका सम्बन्ध प्रस्थापित किया। इस कार्य में अनेकों समाज–सुधारकों का योगदान रहा।

राजनीतिक अस्थिरता, सामाजिक आडम्बर एवं आर्थिक शोषण आदि कारणो से मानव की स्थिति दयनीय होती जा रही थी। साथ ही साथ देश में नये विचारक चिंतक एवं सुधारक निर्माण हो रहे थे, जिनकी प्रेरणा से उपेक्षित, पीड़ित, दीन–हीन दलित मानव अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हो उठा। अपनी खोई हुयी सांस्कृतिक परम्परा को पुनः आत्मसात करने लगा। पश्चिम का विशाल मानववाद उसके समक्ष ही था। उसके प्रकाश में अपनी त्रृटियों को परिमार्जित करते हुए उसने मानव की मुक्ति का संदेश

पाया। यह संदेश राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का भी आधार बना। अतः यही नवजागरण की अंगड़ाई है जिसके साथ हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल प्रारम्भ होता है।

भारतेन्दुयुग को 'नवजागरण काल' के नाम से सम्बोधित करते हुए हमने देखा है कि इस काल का कवि जन सामान्य के सीधे सम्पर्क में आ गये। भारतेन्दु जैसे समाज सुधारक कवि तथा उन्हीं से प्रेरणा ग्रहण करने वाले उस युग के अन्य कवि भी देश और समाज के पतन पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए दलित की दुर्दशा को काव्य रूप देते हैं। ब्रिटिशों तथा साम्राज्यवादियों द्वारा किया जाने वाला दलित वर्ग का शोषण इन कवियों को बेचैन बनाता है। फलस्वरूप ये कवि प्रस्तुत शोषण के खिलाफ आवाज उठाते हैं। सामाजिक आडम्बर एंव धार्मिकता को भी इन कवियों ने त्याज्य माना है। काव्य के क्षेत्र में क्रान्ति प्रस्थापित करते हुए दलित वर्ग की सामाजिक, आर्थिक, एवं राजनीतिक मुक्ति की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। अतः नवजागरण युग की काव्य घारा में प्राप्त दलित-वर्ग का चित्रण संख्यात्मक दृष्टि से कम होने के बावजूद यहीं से काव्य धारा में दलित-वर्ग के चित्रण का प्रारम्भ होने से उसका महत्व अक्षुण्ण है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा में राष्ट्रीयता की व्यापक पृष्ठभूमि को निभाते हुए दलित का चित्रण गहरी सहानुभूति एवं तीव्रता के साथ हुआ है। नवजागरण काल के कवियों ने भी रीतिकालीन परम्परा का खण्डन करते हुये काव्य क्षेत्र में सामाजिकता को भर देने का प्रयास किया है। फलस्वरूप वह देश की स्वतन्त्रता

के बाद एक ऐसा समाज देखना चाहता था जिसमें कोई भी 'दलित' नही रहेगा। खेद है कि उनका यह सपना आज भी पूरा नही हो पाया।

छायावादी काव्य धारा की प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए उसके प्रकृति चित्रण, प्रेम, सौन्दर्य एंव रहस्यवाद की ही अधिक चर्चा की जाती है। छायावाद के प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने पर उसमें सामाजिक प्रश्नों के सम्बन्ध में जो सजग यथार्थ वादी दृष्टि विकसित हुयी, उसे प्रायः प्रगतिवादी काव्य धारा के खाते में डाल दिया जाता है। किन्तु यह छायावाद का प्रदेय है और उसे प्रगतिवाद से जोड़ना छायावादी कवियों की ईमानदारी का अपमान है। पन्त और प्रसाद में अभिजात्य की अधिकता थी। फिर भी पंत ने अपनी ग्राम्य और युगवाणी में तो प्रसाद जी ने 'आंसू' के उत्तरार्ध के पदों में दलित का चित्रण किया है। पीड़ित और दलित के अधिक करीब रहे हैं। निराला जो अत्यधिक उद्धत, विद्रोही और जनजीवन प्रेमी रहे है अपने गद्य में 'चतुरी चमार' और 'विल्लेसुर बकरिहा' का रेखांकन करने वाले इस महाकवि ने दलित चरित्रों एवं दलित जीवन के सम्बन्ध में अनेंको कविताएं लिखी हैं। यह मार्क्सवाद का प्रभाव नही है यह उनके हृदय की सहज करूणा, सामाजिक एवं लोकमंगल की भावना है। निराला जी ही सच्चे दलित लेखक हैं क्योंकि उन्होंने अपने जीवन और साहित्य में कोई विभेद न रखते हुए वर्ण–व्यवस्था को तोडा और अभिजात्य की दीवारों को तीव्र प्रहार द्वारा जर्जर किया।

महादेवी के काव्य में प्रतीकात्मक रूप से दलितों के वर्ग–नारी की एक व्यथा है, जो भारतीय समाज में किसी अछूत से कम नही है दलितों का स्पष्ट समर्थन उनके गद्य में है पद्य में नही।

छायावादी गद्य के मूर्धन्य लेखक मुंसी प्रेमचन्द हैं जिन्होने अपने उपन्यासों एवं कहानियों में दलितों से सम्बन्धित समसयाओं को उभारा है। रंगभूमि, कर्मभूमि, 'कायाकल्प' और गोदान में उन्होंने इसका विस्तृत वर्णन किया है। इसी प्रकार प्रेमचन्द कहानियों में भी दलितों की समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है। 'ठाकुर का कुआ', सद्गति, दूध का दाम, कफन, मन्त्र, मन्दिर, राष्ट्रसेवक इसके उदाहरण हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी क्षेत्र में दलित कवि नही हैं, लेकिन आधुनिक हिन्दी की विभिन्न धाराओं में दलित का चित्रण गहरी सहानुभूति के साथ हुआ है। खेद की बात तो यह है कि स्वतन्त्रयोत्तर भारत में आज भी असपृश्यों के चर जलाये जाते हैं, नारियों की सरेआम इज्जत लूटी जाती है तथा सरकारी सूत्रों के अनुसार 35 करोण से अधिक लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं और 65 करोण से अधिक गरीब हैं, जिनका शोषण निरन्तर होता जा रहा है और केवल शक्ल सूरत से ही जो मनुष्य कहे जा सकते हैं। अतः इस देश का दलित जब तक सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके खुली हवा में साँस लेकर खोया हुआ मानवमन प्राप्त नही करेगा तब तक इस देश की आजादी नही कहलायेगी, जरूरत इस बात की है कि दलित का चित्रण करने वाले कवि एवं

लेखक दलित–वर्गमें से ही उभरें। यदि ऐसा हो सका तो हिन्दी में सही अर्थो में 'दलित साहित्य' और 'दलित कविता' का उद्‌भव और विकास हो सकेगा। कबीर रैदास की जरूरत इस युग को बहुत अधि ाक है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

1. आधुनिक साहित्यः नन्ददुलारे बाजपेयी, भारती भंडार इलाहाबाद 1950
2. आज का दलित साहित्य, अतिश प्रकाशन दिल्ली 2000
3. अपने-अपने पिंजरे, वाणी प्रकाशन दरियागंज दिल्ली 1977
4. डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्‌मय (हिन्दी)
5. डा0 अम्बेडकर- रायटिंग एण्ड स्पीचेस, वाल्यूम 10, सं0 बसंतमून
6. डॉ. अम्बेडकर को नकारे जाने की साजिश-कँवलभारती
7. अन्याय कोई परम्परा नही (डा0 अम्बेडकर के लेख) अनु0 श्यौराज सिंह "बेचैन"
8. आधुनिक भारत- सुमित सरकार
9. आधुनिक भारत सं0- रामलखन शुक्ला
10. आधुनिक कविः रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद 1962
11. उठाईगीर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली 1992
12. ऊहापोह- शान्ति भिक्षु शास्त्री
13. कबीर ग्रन्थावलीः (सं0) पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद-प्रयाग विश्वविद्यालय 1961
14. कामायनी की आलोचना प्रक्रियाः गिरिजा राय, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद 1983
15. क्रास्ट इन इंडिया- जे0 एच0 हट्टन
16. गांधी की आत्म कथा- महादेव देसाई

17. महात्मा गांधी का दर्शन- डा0 धीरेन्द्र मोहन दत्त, विहार ग्रन्थ अकादमी
18. गांधीवाद की शव परीक्षा- यशपाल
19. जयशंकर प्रसादः नन्द दुलारे बाजपेयी, भारती भंडार इलाहाबाद 1948
20. चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, नवलेखन प्रकाशन मेनरोड, हजारीबाग बिहार 2001
21. जूठनः ओम प्रकाश बाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दरियागंज, दिल्ली 1997
22. ज्योतिषा फुले रचनावली- सं0 डा0 विमल कीर्ति
23. डेराडंगर (आत्मकथा) राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली 2001
24. तिरस्कृत, अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद
25. तुलसीदासः सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भारतीय भंडार इलाहाबाद 1962
26 दूसरी परम्परा की खोजः नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1982
27. दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीत विहार दिल्ली 1992
28. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र (सं0) डा0 शरण कुमार लिम्बाले वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 2000
29. दलित और अश्वेत विचार, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला 2001
30. दलित मुक्ति का प्रश्न और दलित साहित्य, श्री साहित्यिक संस्थान, लोनी बार्डर उत्तरांचल कालोनी, गाजियाबाद 2002

31. दलित साहित्य 2000 दिल्ली
32. दलित साहित्य आदोलन, रचना प्रकाशन जयपुर 1997
33. दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द – सं0 सदानन्द साही
34. प्रेमचन्द और अछूत समस्या– कान्ति मोहन
35. दलित चेतना सोच– नवलेखन प्रकाशन हजारीबाग
36. दलित साहित्य विमर्श सं0 रमणिका गुप्ता
37. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र– ओमप्रकाश बाल्मीकि
38. दलित कहाँ जाएं– जियालाल आर्य, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली
39. धर्मयुग – 1994
40. धर्मशास्त्र का इतिहास– पी0वी0 काणे, प्रथम भाग अनुवाद अर्जुन चौबे कश्यप
41. निराला की साहित्य साधना (3 खण्ड) राम विलास शर्माः राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली 1969, 1972, 1976
42. निराला की कविताएं और काव्यभाषा, रेखा खरे, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद 1976
43. निराला आत्महंता आस्थाः दूधनाथ सिंह, नीलाभ प्रकाशन इलाहाबाद 1972
44. निराला और नवजागरणः रामरतन भटनागर, साथी प्रकाशन, सागर 1965
45. निराला रचनावली
46. निराला साहित्य में दलित चेतना– विवेक निराला, शिल्पी प्रकाशन–मीरापुर इलाहाबाद
47. प्रेमचन्द्र समग्र (सं0) डा0 राम विलास शर्मा

48. प्रिय प्रवासः अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस 1943

49. प्रेमचन्द-पूर्व के कथाकार और उनका युगः लक्ष्मण सिंह विष्ट, रचना प्रकाशन इलाहाबाद 1972

50. प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं- डा0 रामशरण शर्मा

51. प्रसाद की रचनाओं में संस्करणगत परिवर्तनों का अध्ययनः अनूप कुमारः हिन्दी परिषद प्रकाशन इलाहाबाद 1985

52. प्रेमचन्द रचनावली सं. अमृतराय

53. बालकृष्ण भट्ट (सं.) डा0 स0प्र0 मिश्र (ने0 बु0 ट्र0, दिल्ली)

54. भारतेन्दु ग्रन्थावली

55. भट्ट निबन्धावली (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं. देवीदत्त शुक्ल)

56. भारतेन्दुमंडलः ब्रजरत्नदास, श्री कमल मणि-ग्रन्थमाला कार्यालय काशी 1949

57. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्पराः रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन नयी दिल्लीः 1975

58. भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में 'रंगभेद और जाति भेद' विषय पर 1997 में आयोजित चार दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढा गया शोध पत्र।

59. भारतीय संस्कृति -धर्मानन्द कौसाम्बी, अनुवादक विश्वनाथ दामोदर शोला पुरकर

60. भारतीय चिन्तन परम्परा- के0 दामोदरन

61. भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या – जगजीवन राम

62. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनाबली

63. महावीर प्रसाद और उनका युगः उदयभानु सिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय 1951

64. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण : रामविलास शर्मा राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली 1977

65. महादेवी की रहस्य साधनाः विश्वम्भर 'मानव' लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद 1967

66. मनुस्मृति, अनुवादक पं0 ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी

67. मूलखोजो विवाद मिटेगा (डा0 अम्बेडकर के लेख) अनु0 श्यौराज सिंह "बेचैन"

68. राज्य और अल्पसंख्यक दलित– डा0 अम्बेडकर अनु. रामगोपाल आजाद

69. राष्ट्रीय आन्दोलन में डॉ0 अम्बेडकर की भूमिका – डी0आर0 जाटों

70. रस्साकसी – वीरभारत तलवार

71. विचार का अन्त– डा0 पुरूषोत्तम अग्रवाल

72. विचार का डर– कृष्ण कुमार (राजकमल प्रकाशन)

73. संत रैदास– एक विश्लेषण– डा0कँवल भारती, दूसरा संस्करण

74. स्वाधीनता संग्राम – बदलते परिपेक्ष्य– डा0 रामविलास शर्मा

75. साहित्य और दलित चेतना– महीप सिंह

76. स्टडीज ऑन गांधी, सं0– बी0 टी0 पाटिल

77. सुमित्रानन्दन पंतः जीवन और साहित्य (2 भाग) : शान्ति जोशी,

राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली 1970-77

78. साहित्य का उद्देश्यः प्रेमचन्द हंस प्रकाशन इलाहाबाद 1954

79. हिन्दी साहित्य का इतिहास- रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी काशी 1945

80. हिन्दी साहित्य की भूमिका- हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार कार्यालय, बम्बई 1948

81. हिन्दी उपन्यास कोश (2 भाग) (सं0) गोपाल राय, ग्रन्थ निकेतन, पटना 1968-69

82. हिन्दी नाट्य साहित्य (ग्रंथकुटी) सं0 कृष्णाचार्य, अनामिका, कलकत्ता 1966

83. हिन्दी साहित्य का इतिहास - सं0 डा0 नगेन्द्र

84. हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा- माता प्रसाद

85. हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग- कुसुम मेंघवाल

86. हिन्द स्वराज- महात्मा गांधी

87. 1857 और नवजागरण - प्रदीप सक्सेना

88. NATIONALISATION OF HINDU TRADITION-VASUDHA DALMIA

89. हरिजन से दलित - सं0 राज किशोर

90. अस्मिता दर्श, मराठी की प्रतिष्ठित पत्रिका, सं0 गंगाधर पानतावणे जिसने मराठी दलित साहित्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, औरंगाबाद

91. समय चेतनाः संपादक अभय दुबे नई दिल्ली 1996

92. मैं भंगी हूँ, दलित टुडे प्रकाशन, इंदिरा नगर लखनऊ 1998 (द्वितीय संस्करण)

93. 'आलोचना' का इतिहास विशेषांक

94. 'पहल' का इतिहास विशेषांक

95. आज की प्रतिभा लोहिया विशेषांक सं0 जे0 पी0 किसान

96. हिन्दी कलम- भाग 2, 3, 4 (इतिहास लेखन अंक एवं जाति वर्ग विशेषांक)

97. 'अब' - डा0 वीरभारत तलवार का लेख

98. उत्तर प्रदेश 'दलित साहित्य विशेषांक'

99. कथाक्रम- नवम्बर 2000 दलित साहित्य विशेषांक

100. हंस

101. आज कल- दिसम्बर 2000 दलित साहित्य विशेषांक

102. संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह दिनकर

103. वर्ण व्यवस्था- महात्मा गांधी